दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० २४९५ तंत्री-जगजीवन बाउचंद दोशी, सावरकुंडला वर्ष २४ अंक नं० १०

चिन्मूरत दृगधारी की....

चारित्र

चिन्मूरत दृगधारी की मोहि, रीति लगति है अटापटी॥
बाहिर नारकि-कृत दुःख भोगे, अंतर सुखरस गटागटी।
रमति अनेक सुरनि संग पै तिस परिणतितैं नित हटाहटी॥

ज्ञान

ज्ञान विराग शक्तितें विधिफल भोगत पै विधि घटाघटी।
सदन निवासी तदपि उदासी, तातें आस्रव छटाछटी॥
जे भवहेतु अबुधके ते तस करत बंध की झटाझटी।
नारक पशु त्रिय षंड विकलत्रय, प्रकृतिनकी हे कटाकटी॥

दर्शन

संयम धरि न सके पै संयम धारन की उर चटाचटी।
तास सुयश गुन की 'दौलत' के लगी रहै नित रटारटी॥

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

फरवरी १९६९ वार्षिक मूल्य ३) रुपये (२८६) एक अंक २५ पैसा [माघ सं० २४९५

विज्ञप्ति

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन सुनने एवं धार्मिक शिक्षण शिविर में अभ्यास करने के लिये अनेक मुमुक्षु भाई-बहिन सोनगढ़ आते रहते हैं।

हिन्दी भाषी मुमुक्षुओं के लिये धर्मशाला बनायी गई थी, वह अब काफी छोटी पड़ने लगी है। इसलिये ट्रस्ट की वार्षिक मीटिंग में एक योजना बनायी गई है। जिसमें वर्तमान धर्मशाला पर एक मंजिल और बनाने का विचार है। जो महानुभाव ४०००) चार हजार रुपये दान देंगे, उनके नाम का एक कमरा बनवाकर उसमें दाता के नाम की तख्ती लगायी जायेगी। एक कमरे के लिये दो व्यक्ति मिलकर भी दान दे सकते हैं। तथा छोटी रकमें भी स्वीकार की जायेंगी और दाताओं के नाम बोर्ड पर लिखाये जायेंगे। योजना का प्रारम्भ हो चुका है। पहले कमरे के लिये श्री नवनीतलाल चुनीलाल जवेरी बम्बई (प्रमुख-श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंडल ट्रस्ट, सोनगढ़) ने ४०००) चार हजार रुपये की घोषणा की है। कमरे की मालिकी ट्रस्ट की होगी, परंतु दाताओं को या उनके सगे-संबंधियों को उतरने में प्राथमिकता दी जायेगी।

—श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

संपादक : (१) श्री ब्र० गुलाबचंद जैन (२) श्री ब्र० हरिलाल जैन

फरवरी : १९६९ ☆ माघ, वीर नि०सं० २४९५, वर्ष २४ वाँ ☆ अंक : १०

आनंद और ज्ञान दोनों सहकारी हैं।

ज्ञान की भाँति आनंद भी आत्मा का स्वभाव है।

जहाँ आनंद न हो, वहाँ ज्ञान भी कैसे होगा?

आनंदरहित ज्ञान को ज्ञान नहीं कहते।

अकेला परोन्मुखी ज्ञान, वह ज्ञान नहीं है, क्योंकि उसमें आनंद नहीं है।

स्वसन्मुख ज्ञान ही अतीन्द्रिय आनंदसहित है, वही सच्चा ज्ञान है।

एकसाथ ऐसा ज्ञान तथा ऐसा आनंद, वह आत्मस्वभाव है।

आनंद के बिना ज्ञान नहीं होता, ज्ञान के बिना आनंद नहीं होता।

आत्मस्वभावोन्मुख होने पर एकसाथ ही ज्ञान-आनंदरूप आत्मा स्वयं परिणमित होता है।—ऐसा स्वभाव वह आत्मा है।

जिसमें आनंद नहीं, वह आत्मा नहीं... आत्मा तो अनाकुलता लक्षणवान सुखस्वभावी है। उस सुख से विलक्षण जो भाव हैं, वे आत्मा नहीं हैं, आत्मा का जो भाव हो, वह तो सुखरूप होता है—ज्ञानरूप होता है। ज्ञानरहित-सुखरहित भाव को आत्मा कैसे कहा जाये? शुभ-अशुभवृत्तियाँ कि जिनमें आकुलता है—जिनमें निराकुलतारूप सुख नहीं है, उन्हें आत्मा कौन कहेगा? वे तो आत्मा के स्वभाव से भिन्न लक्षणवाली हैं और आत्मा का वेदन तो आकुलतारहित सहज आनंदरूप है।

परम शांतिदायिनी

अध्यात्म-भावना

[आत्मधर्म की सरल लेखमाला]

लेखांक ४६-४७] [अंक २८५ से आगे

भगवान श्री पूज्यपादस्वामीरचित 'समाधिशतक' पर पूज्य स्वामीजी के अध्यात्मभावना भरपूर वैराग्यप्रेरक प्रवचनों का सार।

[वीर सं० २४८२ अषाढ़ शुक्ला १४, रविवार 'समाधिशतक' गाथा-८०]

जिनको शरीर और आत्मा का भेदज्ञान हो गया है, ऐसे अंतरात्मा को प्रारंभ की अभ्यासदशा में यह जगत कैसा लगता है ? और पश्चात्, चैतन्य के अभ्यास में एकाग्र होने पर यह जगत कैसा लगता है ? वह बतलाते हैं:—

पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य विभात्युन्मत्तवज्जगत्।
स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात् काष्ठपाषाणरूपवत्॥८०॥

जिनको अपने आत्मा का सम्यग्दर्शन हो गया है—ऐसे अंतरात्मा को प्रारंभिक दशा में तो यह जगत, उन्मत्त जैसा लगता है कि 'अरे रे! यह जगत चैतन्यस्वरूप के चिंतन से च्युत होकर शुभ-अशुभ चेष्टाओं में ही उन्मत्त की भाँति प्रवर्त रहा है, परंतु पश्चात् उस अंतरात्मा योगी को अपने स्वरूप में स्थिरता का अभ्यास करने पर यह जगत, काष्ठ-पाषाण जैसा चेष्टारहित दिखायी देता है। अपने स्वरूप में एकाग्र होने पर, जगत संबंधी चिंताएँ छूट जाती हैं। इसप्रकार अंतरात्मा की दो भूमिकाएँ यहाँ बतलाई हैं।

आत्मस्वरूप का सम्यक् अनुभव होने पर धर्मी को प्रारंभ में राग की भूमिका में ऐसा विकल्प आता है कि अरे! इस जगत के जीव, आत्मस्वरूप को भूलकर संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं, वे अज्ञान से उन्मत्त जैसे हो गये हैं कि परद्रव्य को अपना मान रहे हैं और स्वतत्त्व को भूल रहे हैं। इसप्रकार ज्ञानी को करुणाबुद्धि से जगत पागल जैसा लगता है। अरे! ऐसे आत्मस्वरूप को भूलकर जगत, भ्रमणा में पड़ा है। जगत से भिन्न, जगत पर तैरता हुआ ऐसा जो

अपना चैतन्यस्वभाव, उसका अनुभव स्वयं ने किया है, उसे अन्य जीव, शरीरादि की क्रिया को अपनी मानकर परिणमन करते हुए देखकर ऐसा लगता है कि अरे! यह जीव, मोह से मूर्छित हुए पागल हैं, मोहरूपी भूत इन्हें लगा हुआ है।

ज्ञानी को भेदज्ञान के अभ्यास से जब विशेष दृढ़ता होती है, तब उसे यह समस्त जगत अचेत जैसा लगता है; इसलिये अपने चैतन्य चिंतन की उग्रता होने पर, जगत के प्रति लक्ष नहीं जाता; सहज उदासीन परिणति वर्तती है। चैतन्यतत्त्व से बाहर जो कुछ है, वह सब मुझसे पृथक् है—ऐसा पहले से जाना ही है और पश्चात् उसमें स्थिरता का अभ्यास करने पर, उसे जगत संबंधी चिंता छूट जाती है, स्वरूप में एकाग्रता तो हुई है, वहाँ जगत, चेष्टारहित काष्ठ-पाषाण जैसा लगता है, अर्थात् पर संबंधी चिंता उसे नहीं होती है।

प्रारंभ में तो ज्ञानी को ऐसा होता है कि अरे! यह जीव, स्वरूपचिंतन में विकल वर्त रहे हैं, अर्थात् आत्मा का चिंतन करने में वे अपंग हो गये हैं और मिथ्या-विकल्पों से घिर गये हैं, इनकी चेष्टायें उन्मत्त जैसी हैं। यद्यपि सर्व जगत ज्ञेयरूप ही है, वह कहीं मुझे राग-द्वेष का कारण नहीं है, ऐसा ज्ञानी को अनुभव होने पर भी, राग की भूमिका में ऐसा विकल्प आ जाता है कि अरे रे! चैतन्यनिधान को भूलकर यह जगत, बाह्य में परिभ्रमण कर रहा है, उसकी चेष्टायें उन्मत्त जैसी हैं। परंतु जब ज्ञानी को विशेष लीनता होती है, तब पर के अवलंबनरहित सहज ही उदासीनता वर्तती है। वहाँ पर संबंधी चिंता जागृत नहीं होती। स्वयं अंतर में स्थिर होकर चैतन्यप्रतिमा हो गया है, वहाँ जगत निःचेष्ट भासित होता है; समस्त जगत ज्ञेयरूप ही प्रतिभासित होता है। 'पर जीव अज्ञान से उन्मत्त वर्तते हैं-उसमें मुझको क्या?' ऐसा उदासीनता का विकल्प भी वहाँ नहीं रहता, वहाँ तो स्वरूप में एकाग्रता वर्तती है; इसलिये पर के प्रति परम उदासीनता सहज ही परिणमन करती है।

देखो, यह ज्ञानी की दशा! विकल्प आने पर भी ज्ञानी उससे उदासीन हैं, तथापि विकल्प है, उतनी तो असमाधि है। पश्चात् वे विकल्प भी छूटकर स्वरूप में एकाग्र होने पर ऐसी समाधि हो जाती है कि जगत संबंधी चिंतायें नहीं होतीं। अरे रे! 'ऐसा परम चैतन्यस्वरूप, उसे जगत क्यों नहीं समझता!'—ऐसा भेदभाव भी वहाँ नहीं होता है। इसप्रकार अंतरात्मा की दो भूमिकायें सिद्ध की हैं। एक तो विकल्प-भूमिका और दूसरी स्वरूप में स्थिरतारूप भूमिका। विकल्प-भूमिका में जगत के प्रति करुणा और खेद आ जाता है कि अरे! इस जगत

के प्राणी अपने आत्मस्वरूप को भूलकर उन्मत्त जैसे भवभ्रमण कर रहे हैं; जड़ की क्रिया में और राग में धर्म मानकर वे मोह से पागल हो गये हैं... चैतन्य-स्वभाव के विवेक को वे चूक गये हैं। प्रथम दशा में अंतरात्मा को ऐसा विकल्प आये; इसलिये कहीं वह अज्ञानी नहीं है, तथा विकल्प आया वह करने जैसा है—ऐसा भी नहीं है; परंतु अपनी ऐसी भूमिका होने से स्थिरता का विशेष अभ्यास करके जहाँ एकाग्रता हुई, वहाँ ऐसा विकल्प भी नहीं रहता; वहाँ जगत संबंधी चिंता ही नहीं है, इसलिये जगत अचेत जैसा प्रतिभासता है—ऐसा कहा है। जगत के बाह्य पदार्थों में मेरे चेतन का अभाव है—ऐसा जानकर, अंतर में एकाग्र होने पर, ज्ञानी अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही देखता है; इसलिये जगत को वह अचेतन जैसा देखता है-ऐसा कहा है।

देखो, कैलाशपर्वत पर भरत चक्रवर्ती ने तीन चौबीसी के रत्नमय जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा करायी है। उस कैलाशपर्वत पर बालि मुनि एक बार ध्यान में बैठे थे; वहाँ से राजा रावण निकला। ...बालि मुनि के ऊपर आते ही रावण का विमान रुक गया; रावण ने नीचे उतरकर वहाँ बालि मुनि को देखा; उनको देखते ही रावण को पूर्वभव के वैर का स्मरण हुआ और क्रोध आ गया; इसलिये बालि मुनि का नाश करने के लिये विद्या के बल से कैलाश के नीचे जाकर कैलाशपर्वत को हिलाने लगा। उस समय ध्यान से च्युत होकर मुनि को ऐसी वृत्ति उठी कि अरे! क्रोध का मारा यह रावण पूरे पर्वत को हिलाता है और यहाँ के रत्नमय जिनबिम्बों की असातना करता है; इसलिये जिनबिम्बों की रक्षा करूँ। ऐसी वृत्ति होते ही उन महाऋद्धिधारी ने पैर का अंगूठा तनिक पर्वत पर दबाया, वहाँ तो तीन खंड का राजा रावण, पर्वत के नीचे दबने लगा और रोने लगा! पश्चात् उसने मुनि से क्षमा माँगी और जिनबिम्बों की विराधना हुई, इससे बहुत पश्चाताप करके उन जिनबिम्बों के पास एक महीने तक ऐसी अद्भुत भक्ति की कि धरणेन्द्र का आसन चलायमान हो गया। इस ओर बालि मुनिराज ने भी प्रायश्चित लिया। देखो, मुनिदशा में भी ऐसा विकल्प आया, इसलिये वह करने जैसा है-ऐसा नहीं है। यदि विकल्प को करने जैसा माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। ज्ञानी को अपनी अस्थिर भूमिका में विकल्प आ जाता है, परंतु उस विकल्प को भी चैतन्य से पृथक् जानकर आत्मा में स्थिर होना चाहता है। जहाँ दृढ़ अभ्यास द्वारा आत्मा में स्थिरता हो, वहाँ विकल्प नहीं उठते; कोई निंदा करे, वहाँ 'अरे, यह जीव जैनशासन की विराधना करता है'—ऐसे खेद का विकल्प भी नहीं होता। विकल्प की

भूमिका होने पर भी, यदि विवेक नहीं करता तो वह अज्ञानी है। स्वयं विकल्प की भूमिका हो और देव-गुरु-धर्म पर कहीं उपसर्ग आये तो वहाँ धर्मी को वह उपसर्ग दूर करने का भाव आये बिना नहीं रहता। अपने को राग होने पर भी जो विवेक नहीं करता, वह तो अज्ञानी है। यहाँ तो स्वरूप के अनुभव में ऐसी एकाग्रता हुई कि पर की ओर का विकल्प उठता ही नहीं—ऐसी दशा की यह बात है। धर्मी को विकल्प उठे परंतु वह उसे छोड़कर स्वरूप में स्थिर होना चाहता है; और जहाँ स्वरूप में स्थिर हुआ, वहाँ जगत के विषयों की चिंता का अभाव होने से परम उदासीनता सहज ही वर्तती है। उसे जगत संबंधी राग-द्वेष नहीं; इसलिये जगत, काष्ठ-पाषाणवत् प्रतिभासित होता है—ऐसा कहा है। पहिले शरीरादि से पृथक् आत्मा को जानकर भेदज्ञान के अभ्यास द्वारा स्वरूप में स्थिर होता हुआ समस्त विकल्पों से छूटकर जीव,मुक्ति को प्राप्त होता है। आत्मा के भेदज्ञान के अभ्यास की ऐसी महिमा है ॥८०॥

[वीर सं. २४८२ श्रावण शुक्ला १ मंगलवार 'समाधिशतक' गाथा-८१]

अब, शिष्य प्रश्न करता है कि—हे नाथ! आपने आत्मा में स्थिरता का अभ्यास करने को कहा, परंतु वह तो व्यर्थ लगता है, आत्मा के अभ्यास में परिपक्व होने का उद्यम करने की किंचित् आवश्यकता नहीं लगती, क्योंकि शरीर और आत्मा भिन्न हैं—ऐसी धारणा से अथवा ऐसा श्रवण करने से अथवा स्वयं अन्य को कहने से ही मुक्ति हो जावेगी। फिर स्थिरता का उद्यम करने का क्या प्रयोजन है ?—शिष्य के ऐसे प्रश्न के उत्तर में आचार्य पूज्यपादस्वामी कहते हैं कि:—

शृण्वन्नप्यन्यतः कामं वदन्नपि कलेवरात्।
नात्मानं भावयेद्भिन्नं यावत्तावन्न मोक्षभाक् ॥८१॥

शरीर और आत्मा भिन्न हैं—ऐसा बारंबार इच्छापूर्वक सुनने पर भी, तथा अन्य को कहने पर भी, और ऐसी धारणा करने पर भी, जब तक स्वयं अंतर्मुख होकर इस शरीर से भिन्न आत्मा का अनुभव नहीं करता, तब तक जीव, मुक्ति को प्राप्त नहीं होता।

शरीर से आत्मा भिन्न है—ऐसी वाणी गुरु के पास लाखों वर्षों तक सुने और स्वयं भी लाखों मनुष्यों की सभा में उसका उपदेशा दे; वे तो दोनों पर के ओर की आकुल वृत्तियाँ हैं। वाणी तो पर है, अनात्मा है, उसके आश्रय से आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। वाणी सुनने का और कहने का अभ्यास, वह कहीं स्व-अभ्यास नहीं है; इसलिये वह कहीं मोक्ष का कारण नहीं है;

मोक्ष का कारण तो स्व-अभ्यास है। स्व-अभ्यास अर्थात् क्या ?—कि ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा को शरीर से भिन्न जानकर, अंतर्मुख होकर बारम्बार एकाग्रता का अभ्यास करना, उसका नाम स्वअभ्यास है, और वह मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है। जो अंतर्मुख होकर ऐसी आत्मभावना करे, उसने श्रीगुरु का उपदेश वास्तव में सुना है; क्योंकि श्रीगुरु भी शरीर से भिन्न आत्मा को जानकर उसी में अंतर्मुख होने को कहते हैं। दूसरों से सुनने का शुभभाव हो—वह कहीं स्व-अभ्यास नहीं है; वह तो राग है। उस राग की भावना से मोक्ष माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। कोई ऐसा माने कि 'जगत के अनेक जीव यदि हमारे निमित्त से धर्म प्राप्त करते हों तो हमें भले ही संसार में थोड़ा समय रहना पड़े...' तो वे जीव महान मूढ़ हैं, उनको स्व-अभ्यास की भावना नहीं है परंतु पर को समझाने की और राग की भावना है। अंतर में धर्म के बहाने जगत से मान-सन्मान लेने की उनकी भावना है। 'हमारा भले चाहे जो हो, परंतु हमें तो दूसरों का हित करना है'—ऐसी बात सुनकर साधारण लोग तो प्रसन्न हो जाते हैं कि वाह! इनकी कैसी उच्च भावना है, यह कैसे परोपकारी है! परंतु ज्ञानी कहते हैं कि वे जीव मिथ्यादृष्टि हैं, उन्हें अभी भवभ्रमण का भय नहीं है।—'अरे, मेरा यह आत्मा चार गति के परिभ्रमण से कैसे छूटे!' ऐसी उन्हें दरकार नहीं है, उन्हें तो पर को समझाने की भावना है, परंतु आत्मा की भावना नहीं है! अरे, मेरा आत्मा, आत्मा की भावना से रहित अनादि काल से चार गति के घोर दुःख भोग रहा है, उससे अब मेरा छुटकारा किसप्रकार हो ?—ऐसा विचार करके धर्मी तो देहादि से भिन्न अपने आत्मा की ही भावना करता है और उसी में एकाग्र होने का अभ्यास करता है। आत्मा में एकाग्रता का अभ्यास ही मोक्ष का कारण है। इसके अतिरिक्त पर के अवलंबन द्वारा श्रवण-मनन या धारणा, वह मोक्ष का कारण नहीं है; वह तो मात्र विकल्प है—राग है; और यदि उस राग से संवर-निर्जरारूप धर्म का होना माने तो वह मिथ्यादृष्टि है, उसे राग का अभ्यास है परंतु आत्मा का अभ्यास नहीं है। अरे जीव! श्रवण करने का या अन्य को श्रवण कराने का राग-भाव, वह आत्मा नहीं और वाणी का प्रवाह छूटे, उसमें भी आत्मा नहीं है; आत्मा तो ज्ञानानंदस्वरूप है—ऐसा जानकर अंतर्मुख ज्ञानानंदस्वभाव का अनुभव कर। ज्ञायकस्वभाव में जितनी एकाग्रता करेगा, उतना तेरा हित है और वही मोक्ष का कारण है। वाणी अथवा वाणी की ओर का विकल्प, वह कहीं तुझे शरणरूप नहीं होगा। तीर्थंकर परमात्मा की दिव्यध्वनि गणधरदेव सुनते हैं, तथापि उन्हें उस वाणी की ओर का जो विकल्प है, वह तो राग है; वह धर्म

नहीं है परंतु अंतर में रागरहित वीतरागी एकाग्रता परिणमन करती है, वही धर्म है और वही मोक्ष का कारण है। देखो, संत स्वयं ऐसा कहते हैं कि हे जीवो! हमारी वाणी की ओर के झुकाव से तुम्हारा हित नहीं होगा, तुम्हारा हित तो अपने ज्ञायकस्वरूप की ओर झुकने में ही है, इसलिये तुम अपने स्वभाव में अंतर्मुख होकर उसकी श्रद्धा-ज्ञान करो और उसका बारम्बार अभ्यास करके उसी में एकाग्र होओ—ऐसे स्व-अभ्यास से ही तुम्हारी मुक्ति होगी ॥८१ ॥

***

अंतरात्मा को शरीर से भिन्न आत्मा की कैसी भावना करनी चाहिये, वह अब कहेंगे।

भौंदूभाई देखि....

(राग-गौरी)

भौंदूभाई देखि... हिये की आँखैं,
जे कर्षैं अपनी सुख संपत्ति, भ्रम की संपत्ति नाखैं, भौंदू भाई ॥१ ॥
जे आँखैं अमृतरस वर्षैं, परखैं केवलिवानी
जिन्ह आंखिन विलोकि परमारथ, होंहि कृतारथ प्रानी, भौंदू भाई ॥२ ॥
जिन आंखिनहिं दशा केवलि की कर्मलेप नहिं लगो।
जिन आंखिन के प्रगट होत घट, अलख निरंजन जागे, भौंदू भाई ॥३ ॥
जिन आंखिन सौं निरखि भेदगुन, ज्ञानी ज्ञान विचारै।
जिन आंखिन सौं लखि स्वरूप मुनि, ध्यान धारणा धारै, भौंदू भाई ॥४ ॥
जिन आंखिन के जगे जगत के, लगैं काज सब झूठे।
जिन सौं गमन होइ शिवसन्मुख, विषय विकार अपूठे, भौंदू भाई ॥५ ॥
जिन आंखिन में प्रभा परम की, पर सहाय नहिं लेखैं।
जे समाधि सौं तकै अखंडित, ढकै न पलक निमेषैं, भौंदू भाई ॥६ ॥
जिन आंखिन की ज्योति प्रगटि कैं, इन आंखिन मैं भासैं।
तब इनहू की मिटै विषमता, समतारस प्रकासे, भौंदू भाई ॥७ ॥
जे आँखैं पूरन स्वरूप धरि, लोकालोक लखायै।
अब यह वह सब विकलप तजिकै, निरविकलप पद पावैं, भौंदू भाई ॥८ ॥

तत्त्वचर्चा

प्रश्न—निश्चयसम्यग्दर्शन गृहस्थ को नहीं होता, मुनि को ही होता है, यह बात बराबर है।

उत्तर—नहीं, निश्चयसम्यग्दर्शन में लक्षणदृष्टि से तो सराग-वीतराग के भेद नहीं हैं, किंतु चारित्रगुण को उसमें अभेद करके उसकी पहचान कराने की एक विवक्षा है। दर्शनमोहकर्म का उपशम, क्षयोपशम या क्षयवाला निश्चयसम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान में भी होता है। चारों गति में जो सच्चा पुरुषार्थ करे, उसे होता है।

(१) यदि ४-५ गुणस्थान में व्यवहार ही माना जाये तो निश्चय बिना अकेला व्यवहार जिनागम में माना नहीं है। तथा (२) अनंतानुबंधी कषाय के अभाव में किसी भी प्रकार, किसी भी विवक्षा से आंशिक स्वरूपाचरणचारित्र भी न माना जाये, सर्वथा स्वरूपाचरणचारित्र का अभाव ही माना जाये तो ऐसा कथन जिनागम में नहीं है।

प्रश्न—निश्चय-श्रद्धा में तो गुरु-शिष्य, पर की दया-सेवा, दान-पूजा, संस्था चलाना आदि कुछ नहीं आता, यदि गृहस्थ ऐसी श्रद्धा करेगा तो स्वच्छंदी प्रमादी हो जायेगा-यह कथन बराबर है?

उत्तर—नहीं, (१) जिनाज्ञा को माननेवालों को ही निश्चयसहित व्यवहार होता है। सरागदशा में ज्ञानी क्षायिकसम्यग्दृष्टि को भी भूमिकानुसार दया, दान, सेवा, वात्सल्य, संस्था चलाने का राग (हेयबुद्धिपूर्वक) आता है। किंतु ऐसा नियम नहीं है कि जो कोई ज्ञानी हुआ वह तुरंत ही मौन हो जाये, सकलसंयमी बन ही जाये। श्रद्धा में संपूर्ण निश्चयसम्यग्दर्शन का निरंतर परिणमन होने पर भी कथंचित् चारित्र का कार्य अलग होता है। 'सर्वगुण असहायः द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः।'

(२) गृहस्थों को निश्चयश्रद्धा से नुकसान मानना तो सर्वज्ञकथित सच्चे सुख के मार्ग का ही विरोध है। प्रथम तो पराश्रयरूप व्यवहार-निमित्त चाहिए, तथा पर का कुछ कर सकते हैं, ऐसा मानना वह तो असत्य श्रद्धा से लाभ मानना है। सत्य-श्रद्धान अर्थात् निश्चयश्रद्धान से किसी को नुकसान नहीं होता। जो कोई सर्वज्ञकथित निश्चयश्रद्धान से अहित होना मानते हैं, वे पराश्रय से राग करने से भला मानते ही हैं, अतः उनको आत्मा और उससे विरुद्धतत्त्व आस्रव का स्वरूप क्या है, हेय-उपादेय क्या है, उस बात की जरा भी श्रद्धा नहीं है।

सम्यग्दर्शन होता है तब...

देखो, यह सम्यग्दर्शन का मंत्र है.... श्रीगुरुओं ने सम्यग्दर्शन के लिये भव्यों को यह शुद्धनयरूप मंत्र दिया है, इस मंत्र द्वारा अवश्य सम्यग्दर्शन होता है। और जब सम्यग्दर्शन होता है तब... क्या होता है ? वह इस समयसार कलश-१० के प्रवचन में कहेंगे।

सम्यग्दर्शन के उपोद्घात का यह श्लोक है। सम्यग्दर्शन कैसे आत्मा को प्रकाशित करता है ? वह कहते हैं:—

'आत्मस्वभावं परभावभिन्नं' परभावों से भिन्न ऐसे आत्मस्वभाव को अनुभव में लेता हुआ सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। 'आपूर्ण आद्यंत विमुक्त एकम्' आदि-अंत से रहित और अपने गुण-पर्यायों से परिपूर्ण ऐसे एक शुद्ध अभेद आत्मा का शुद्धनय अनुभव करता है और वही सम्यग्दर्शन है। ऐसे शुद्ध आत्मा को अनुभव में लेने पर ही समस्त संकल्प-विकल्प का जाल विलय को प्राप्त होता है। 'विलीन संकल्प-विकल्प जालं' जिसमें किंचित् भी संकल्प-विकल्प नहीं है, ऐसे परिपूर्ण शुद्ध आत्मस्वभाव को परभावों से पृथक् एकरूप शुद्धनय प्रकाशित करता है। (प्रकाशयन् शुद्धनयोभ्युदेति) अर्थात् ज्ञानपर्याय अंतर्मुख होकर अभेदरूप से ऐसे आत्मा का अनुभव करती है। जब सम्यग्दर्शन होता है, तब उसमें ऐसा आत्मा अनुभव में आता है। ऐसी निर्विकल्प अनुभूतिपूर्वक सम्यग्दर्शन होता है।

देखो, यह कैसे आत्मा को अनुभव में लेने से सम्यग्दर्शन होता है, उसकी बात है। सर्व सम्यग्दृष्टि जीव अंतर में ऐसे अपने आत्मा को देखते हैं-अनुभव करते हैं और यही वीतरागमार्ग की प्रारंभिक दशा है। ऐसे आत्मा को शुद्धनय से अनुभव में लिये बिना वीतरागमार्ग की शुरुआत नहीं होती।

—ऐसा मार्ग वीतराग का.... देखा श्रीभगवान।

भाई, वीतराग भगवान का कहा हुआ मार्ग क्या है—उसकी पहिचान तो कर। शुद्ध आत्मा को देखना—अनुभव करना, उसे भगवान ने जिनशासन कहा है, वह जिन की आज्ञा है, वही सम्यग्दर्शन की रीति है।

हे भाई! तुझे सम्यग्दर्शन प्रगट करना है ना? तो संतों की यह शिक्षा है कि अपने आत्मा को परभावों से (शरीर से और राग से) पृथक् और स्वभाव से परिपूर्ण एकरूप अंतर में शुद्धनय द्वारा देख। राग को, संकल्प-विकल्प को आत्मारूप मत देख, उससे आत्मा को पृथक् मान। पर्याय के भेद में भी मत रुक। अखण्ड शुद्ध आत्मा को देख। ऐसे आत्मा को देखने पर अपूर्व आनंद के अनुभवसहित सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होगा।

जिनको मूल्यवान हीरा लेना हो, उनको उस हीरे की पहिचान करना चाहिए। हाथ में कोयला लेकर माने कि 'यह हीरा है'—तो हीरा हाथ में नहीं आयेगा, उसीप्रकार जिनको 'चैतन्य हीरा' लेना हो, जिनको सम्यग्दर्शन प्रगट करना हो—उनको राग के दागरहित शुद्ध चैतन्यहीरा कैसा है, उसे पहिचानना चाहिए। रागादि संकल्प-विकल्प का अनुभव करे और ऐसा माने कि 'ऐसा आत्मा है'—तो चैतन्य-हीरा उनको नहीं मिलेगा; भेद के और अशुद्ध के अनुभव से सम्यग्दर्शन नहीं होता। ज्ञान-दर्शनादि गुणों के या पर्यायों के भेद को देखकर अपने अनंत-ज्ञानादि स्वभावों से अभेद एकरूप आत्मा को सम्यग्दर्शन देखता है। अनंतगुणों को अनंत भेद के विकल्परूप न देखकर एकाकार एक सहज स्वभावरूप से धर्मी अपने को अनुभव करता है, इसलिये उस अनुभव में एकत्व प्रकाशित होता है।

देखो, यह सम्यग्दर्शन का मंत्र है। श्रीगुरुओं ने सम्यग्दर्शन के लिये भव्य जीवों को यह शुद्धनयरूप मंत्र दिया है, इस मंत्र द्वारा अवश्य सम्यग्दर्शन होता है।

चैतन्य विद्या का अभ्यास

हे भाई! कोलाहल करना छोड़.... और
आत्मा के अभ्यास में चित्त लगा!

जिसे आत्मा का अनुभव करने की लगन लगी है, ऐसे शिष्य को संबोधित करके ३४वें कलश में आचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य! विरम... जगत के अन्य कोलाहल से तू विरक्त हो। बाह्य हलचल से तुझे किंचित् लाभ नहीं है, इसलिये इससे तू विरक्त हो... बाह्य कोलाहल को एक ओर रखकर अंतर में चैतन्य को देखने का अभ्यास निभृत हो। निभृत होकर अर्थात् शांत होकर, निश्चल होकर, एकाग्र होकर, स्थिर होकर, विनीत होकर, दृढ़ होकर, अंतर में चैतन्य को देखने के अभ्यास में अपने चित्त को लगा। एकबार छह महीने तक ऐसा अभ्यास करके तू विश्वास कर... कि ऐसा करने से तेरे हृदय सरोवर में पुद्गल से पृथक् ऐसे चैतन्यप्रकाश की प्राप्ति होती है या नहीं? छह महीने में अवश्य प्राप्ति होगी।

हे भाई! अपनी बुद्धि से शरीर और रागादि को अपना मानकर उनका तो तूने अनंत काल से अभ्यास किया, तथापि तुझे चैतन्यविद्या प्राप्त नहीं हुई, अपना आत्मा अनुभव में नहीं आया और तू अज्ञानी ही रहा... इसलिये अब अपनी इस मिथ्याबुद्धि को छोड़कर हम कहते हैं, उस रीति से तू अभ्यास कर। ऐसे अभ्यास से छह महीने में तो तुझे अवश्य चैतन्यविद्या प्राप्त होगी। छह महीने तक लगनपूर्वक अभ्यास करने पर तुझे अवश्य आत्मा का अनुभव होगा। भाई, छह महीने तो हम अधिक से अधिक कहते हैं, यदि उत्कृष्ट आत्मरुचिपूर्वक तू प्रयत्न करे तो दो घड़ी में ही तुझे आत्मा का अनुभव होगा।

अहा, देखो तो इस चैतन्य के अनुभव का मार्ग! कितना सरल और सहज! चैतन्य का अनुभव सहज और सरल होने पर भी जगत के व्यर्थ कोलाहल में रुक जाने से जीव को वह दुर्लभ हो गया है। इसलिये आचार्यदेव ने शर्त रखी है कि जगत के व्यर्थ कोलाहल को छोड़कर चैतन्य के अनुभव का अभ्यास कर... एक चैतन्यतत्त्व को छोड़कर अन्य सबको भूल जा... इसप्रकार मात्र चैतन्य का ही अभिलाषी होकर अंतर में उसके अनुभव का अभ्यास करे तो

उसकी प्राप्ति क्यों न हो ? अवश्य होगी। 'कितने समय में ?'—कि मात्र दो घड़ी में ! कदाचित् तुझे कठिन लगे और देर लगे तो भी अधिक से अधिक छह महीने में तो अवश्य आत्मा की प्राप्ति होगी। इसप्रकार आत्मप्राप्ति के अभ्यास का अधिक से अधिक छह महीने का कोर्स है। छह महीने के निरंतर सच्चे अभ्यास से आत्मप्राप्ति अवश्य होती है।

यहाँ, 'अधिक से अधिक छह महीने' कहकर कहीं काल की गिनती पर वजन नहीं देना है, परंतु शिष्य को आत्मरुचि का भाव कैसा उग्र है, वह बतलाना है। सारे जगत की दरकार छोड़कर जो शिष्य आत्मा का अनुभव करने के लिये तैयार हुआ है, वह शिष्य काल के माप को नहीं देखता कि 'कितना काल हुआ।'—वह तो अंतर में चैतन्य को पकड़ने के अभ्यास में गहरायी तक उतरता जाता है। प्रतिसमय चैतन्यस्वभाव निकट-अतिनिकट होता है। आत्मा का अनुभव होने तक वह ऐसा ही धारावाही अभ्यास करता रहता है और ऐसे अनुभव के अभ्यास में उसे अपने ही अंतर में प्रतिभासित होता है कि मेरे चिदानंदस्वभाव की शांति समीप ही है। सुख के समुद्र को स्पर्शकर शीतल वायु आ रही है, अब सुख का समुद्र एकदम समीप ही है। इससे आचार्यदेव ने कहा है कि—हे भाई! छह महीने ऐसा अभ्यास करने से तुझे अपने ही हृदय में चैतन्य का विलास दिखायी देगा। इसलिये आज तक के उल्टे-सीधे तर्कों को एक ओर रख और इसप्रकार अंतर में चैतन्य के अनुभव का अभ्यास कर।

देखो, इस चैतन्यविद्या का अभ्यास! यह चैतन्यविद्या तो भारत की मूल विद्या है। प्राचीनकाल में तो बाल्यावस्था से ही भारत के बालकों में ऐसी चैतन्यविद्या के संस्कार डाले जाते थे... माताएँ भी धर्मात्मा थीं। वे अपने बालकों को ऐसे उत्तम संस्कार सिखलाती थीं और बालक भी अंतर में अभ्यास करके—अंतर में उतरकर... आठ-आठ वर्ष की उम्र में आत्मा का अनुभव करते थे... भारत में चैतन्यविद्या का ऐसा शोभायमान धर्मकाल था... उसके बदले आज तो इस चैतन्यविद्या का श्रवण भी कितना दुर्लभ हो गया है ! परंतु जिन्हें अपना हित करना है और शांति चाहते हों, उन्हें यह चैतन्यविद्या सीखना ही होगी... इसके अतिरिक्त जगत की अन्य किसी विद्या द्वारा आत्मा का हित या शांति का अंश भी प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये हे जीव! 'यह बात हमारी समझ में नहीं आती... हमें कठिन लगती है... आजकल हमको समय नहीं मिलता'—ऐसा व्यर्थ का कोलाहल छोड़—और इस चैतन्य के अभ्यास में ही अपने आत्मा को लगा। छह महीने निरंतर अभ्यास करने से तुझे अवश्य आत्मज्ञान और आत्मशांति होगी।●●

आत्मा का स्वाधीन स्वभाव
अपने सम्यक्त्वादि-कार्य के कारण को कहाँ ढूँढ़ना ?

आत्मा के अंतर में जो वैभव भरा हुआ है, उसका यह वर्णन है। अरे, चैतन्य दरबार में कैसा अनंत रत्नों का समुद्र भरा हुआ है! कैसा अचिंत्य चैतन्यवैभव अंतर में भरा हुआ है! उसे संतों ने बतलाया है। अहो, ऐसे निजवैभव को कौन नहीं देखेगा? कौन नहीं लेगा? कौन नहीं अनुभव करेगा? हे जीवो! तुम अपने ऐसे आत्मवैभव को देखो, अनुभव करो, तुमको परम आनंद होगा।

यह ज्ञानस्वरूपी आत्मद्रव्य अन्य द्वारा नहीं किया गया है। इसलिये 'अकार्य' है; और स्वयं किसी अन्य को नहीं करता, इसलिये 'अकारण' है। इसप्रकार ज्ञानस्वभावी आत्मा अकार्यकारणत्वरूप धर्म से सहित है। जिसप्रकार आत्मद्रव्य पर के कार्यकारणरूप से रहित है, उसीप्रकार उसके सर्व गुण और पर्यायें भी पर के कार्य-कारण से रहित हैं।

आत्मा पर का कारण नहीं और पर का कार्य भी नहीं है। आत्मा का स्वभाव ऐसा स्वाधीन है कि पर से किया नहीं जाता; विकल्प कर्ता होकर आत्मा के स्वभाव का कार्य करे—ऐसा आत्मा नहीं है। उसीप्रकार आत्मा कारणरूप होकर राग को करे—ऐसा भी उसका स्वभाव नहीं है। आत्मा का स्वभाव ऐसा अकार्यरूप है कि अन्य किसी कारण की उसे अपेक्षा नहीं है। निजस्वभाव के अतिरिक्त अन्य किसी कारण को वह अपने कारणरूप स्वीकार नहीं करता। उसीप्रकार कर्म आदि अन्य पदार्थ का कारण हो, ऐसा कारणपना भी आत्मा के स्वभाव में नहीं है। त्रैकालिक स्वभाव में तो नहीं और उस स्वभाव की ओर झुकी हुई निर्मल पर्याय में भी किसी परभाव के साथ कारण-कार्यपना नहीं है। आत्मा की एक भी शक्ति (गुण) स्वयं

यदि विकार का कारण हो तो विकार निरंतर हुआ ही करे।—परंतु ऐसा नहीं है। स्वभावसन्मुख होने पर विकार चला जाता है। इसलिये विकार, वह स्वभाव का कार्य नहीं है। उसीप्रकार विकारी भाव (शुभराग) कारण होकर आत्मा के सम्यग्दर्शनादि कार्य को करे, ऐसा भी नहीं है। ज्ञानादि निजशक्ति से आत्मा स्वयं कार्यरूप से परिणमन करता है। आत्मा की एक भी शक्ति ऐसी नहीं कि निजकार्य के लिये अन्य का अवलंबन ले। ज्ञान अपने कार्य के लिये अन्य का अवलंबन ले अथवा तो ज्ञान परिणमन करके अन्य का कार्य करे—ऐसा अन्य के साथ कार्य-कारणपना ज्ञान में नहीं है। वास्तव में आत्मा की ज्ञानशक्ति को ज्ञानावरण कर्म के साथ कारण-कार्यपना नहीं है। आत्मा की ऐसी अकारण-कार्यशक्ति सर्वगुणों में व्याप्त हुई है, इसलिये ज्ञान की भाँति श्रद्धा, आनंद आदि किसी भी गुण को अथवा उसकी पर्याय को पर के साथ कारण-कार्यपना नहीं है। शुभराग कारण होकर सम्यग्दर्शनादि कार्य को कर दे—ऐसा नहीं होता। राग में से सम्यग्दर्शनादि कार्य प्रगट हो तो आत्मा रागमय हो गया; क्योंकि कारण और कार्य पृथक् जाति के नहीं होते।

आत्मा की प्रत्येक शक्ति में स्वयं कारण-कार्यपने का समावेश है। पर के साथ इसका संबंध नहीं है। आनंद का कारण कौन? कि आत्मा की आनंदशक्ति ही कारण है। ज्ञान का कारण कौन? ज्ञानशक्ति ही ज्ञान का कारण है। ऐसे अनंत गुणों में अपने-अपने कार्य का कारण होने की शक्ति है। पर के साथ कारण-कार्यपना नहीं है। आत्मा के अनंत गुण सदा एक क्षेत्र में रहे हुए हैं, गुणों को क्षेत्रभेद नहीं है। द्रव्य-गुण का सदा एकक्षेत्रपना है और उनकी पर्यायें भी स्वक्षेत्र में ही व्यापक हैं। आत्मा के ऐसे द्रव्य-गुण-पर्याय में अन्य का कारण-कार्यपना किंचित् भी नहीं है। जहाँ अकारण-कार्यस्वभावी ऐसे द्रव्य को दृष्टि में लिया, वहाँ स्वद्रव्य को ही कारण बनाकर निर्मलपर्यायरूप कार्य होता है। श्रद्धा में, ज्ञान में, चारित्र में, आनंद में, सर्व गुणों की निर्मल पर्याय में स्वशक्ति ही कारणरूप है। अन्य किसी का कारण नहीं है। अन्य को अपना कारण बनाना, ऐसी पराधीनता आत्मा के स्वभाव में नहीं है। स्वकारण-कार्य की स्वाधीन प्रभुता में भगवान आत्मा विराजमान है।

भगवान! तेरी शांति के लिये, सुख के लिये अन्य कोई कारण नहीं है, तुझमें ही तेरी शांति का-सुख का कारण होने का स्वभाव है। श्री रामचंद्रजी जब लक्ष्मण के शरीर को कंधे पर उठाकर फिरते थे और जब सीताजी की खोज में वन-जंगल में घूमते थे, तब भी वे आत्मा की

ऐसी प्रभुता को जानते थे, और उससमय के राग के साथ अपने स्वभाव का कारण-कार्यपना स्वीकार नहीं करते थे। उससमय भी पर के या राग के कारण बिना ही उनके आत्मा में सम्यग्दर्शनादि कार्य होता था। ज्ञानादि निर्मल भावों के कारण-कार्यरूप ही उनका आत्मा परिणमन करता था। इसीप्रकार सीताजी को भी वनवास के समय अंतर में ऐसे आत्मा का अनुभव था। मेरे आत्मजीवन के लिये किसी अन्य का कारण नहीं, मेरे सुख को अन्य के साथ कारण-कार्यपना नहीं है; पर के साथ कारण-कार्य संबंध रहित मेरा निरपेक्ष आत्मा ही मुझे शरण है; मेरे आनंद में अन्य किसी का कारण हो, ऐसा नहीं है। मेरा आनंदस्वभाव ही स्वयं परिणमन करके आनंदरूप कार्य करता है। प्रत्येक आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है परंतु उसको जो लक्ष में लेता है, उसे वह पर्याय में प्रगट होता है और तब भगवान आत्मा अपने अनेकांत-वैभव से प्रसिद्ध होता है। आत्मा में निर्मल पर्याय का उत्पाद-व्यय होता है, वह तो स्वभाव है, उसमें किसी अन्य का कारण नहीं है। तथा आत्मा अपनी पर्याय द्वारा कारण होकर अन्य के कार्य को करे, ऐसा भी नहीं बनता; आत्मा की ज्ञानपर्याय को अपनी ज्ञानशक्ति के साथ ही कारण-कार्यपना है, ज्ञानावरणादि पर के साथ उसको कारण-कार्यपना नहीं है।

लोग कहते हैं कि कारण की शोध करो; परंतु भाई! तू कारण की कहाँ शोध करेगा? अपने में या पर में? पर में तो तेरा कारण है ही नहीं, इसलिये उसमें शोधना तो व्यर्थ है। तेरा सहजस्वभाव ही तेरे कारणरूप परिणमन करके तुझे केवलज्ञान दे, ऐसा है। श्री प्रवचनसार में आचार्यदेव कहते हैं कि ज्ञानस्वभाव को ही कारणरूप ग्रहण करने से शीघ्र ही केवलज्ञान प्रगट होता है। निश्चय से पर के साथ आत्मा का कारणपने का संबंध नहीं है, कि जिससे शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति के लिये सामग्री (बाह्य साधन) ढूँढ़ने की व्यग्रता से जीव व्यर्थ ही परतंत्र होते हैं।

स्वयं कारणरूप होकर अन्य का कार्य नहीं करे, ऐसा 'अकारण' स्वभाव और अन्य को कारणरूप स्वीकार करके स्वयं उसका कार्य नहीं हो, ऐसा 'अकार्य' स्वभाव; इसप्रकार का अकारण-कार्यस्वभाव आत्मा में त्रैकालिक है, वह द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्याप्त है, इसलिये जिसप्रकार त्रैकालिक द्रव्य-गुण अन्य से करने में नहीं आते, उसीप्रकार पर्याय भी अन्य से करने में नहीं आती। वाह! कितनी स्वाधीनता! आत्मा को अपने धर्म की परिणति के लिये शरीरादि की क्रिया साधन होती है—ऐसा माने, उसे आत्मा के स्वभाव का पता नहीं है।

परमात्मपना अपने में से ही प्राप्त हो और अन्य का पराश्रितपना नहीं रहे, ऐसी यह बात है। ऐसा ही आत्मा का वैभव है। इस वस्तु को लक्ष में ले तो उपादान-निमित्त या निश्चय-व्यवहार आदि समस्त तत्त्वों का निर्णय हो जाये। अरे, आत्मा! तुझमें प्रभुता का परम सामर्थ्य भरा हुआ है, फिर तुझे अन्य किसकी सहायता लेनी है? तेरी शक्ति में ऐसी अपूर्णता कहाँ है कि तुझे बाह्य में अन्य कारण की शोध करना पड़े? अरे! स्वशक्ति में महान सामर्थ्य है, उसे भूलकर निमित्तकारण के पास दीनता करके तू क्यों अटक गया है? पर के कारण आत्मा में हीनता हो, ऐसी बात तो दूर रहो, और अपनी पर्याय के कारण हीनता हो, वह भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। दीनता या हीनता से रहित आत्मस्वभाव है, उसकी शक्ति में से तो पूर्ण विकास ही प्रगट होता है, और वह भी अन्य कारण रहित ही प्रगट होता है, ऐसा आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव का ऐसा वैभव तुझमें भरा ही है, उस पर दृष्टि डाले तो प्रगट होने में देर न लगे।

श्री समयसार, गाथा ७२ में आत्मा और आस्रव की पृथक्ता का वर्णन करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि—आस्रव आकुलता को उत्पन्न करनेवाला है, इसलिये दुःख का कारण है और भगवान आत्मा तो सदा निराकुलता स्वभाव के कारण किसी का कार्य तथा किसी का कारण नहीं है, इसलिये दुःख का अकारण है। आत्मा स्वयं निजस्वभाव से दुःख का कारण नहीं है। गुणस्वभावी आत्मा अपने गुणों के कार्य का कारण होता है, परंतु अन्य का कारण नहीं होता। यदि अन्य के साथ कारण-कार्यपना करने जाये तो वहाँ आकुलता और दुःख की ही उत्पत्ति होती है। इसप्रकार पर के साथ एकत्वबुद्धिरूप आस्रव, वह दुःख का कारण है और भगवान आत्मा स्वयमेव सुखरूप होने से दुःख का कारण नहीं है।—इसप्रकार पृथक्ता जानकर, क्रोधादि से भिन्न आत्मस्वभाव का अनुभव करने पर आत्मा निर्मल सुखरूप परिणमन करता है और दुःखरूप ऐसे आस्रवभाव से छूट जाता है।

इस चैतन्यसमुद्र में अनंत गुणरत्न भरे हुए हैं; एक-एक रत्न महान् है, ऐसा महान् चैतन्यरत्नाकर जगत में सबसे श्रेष्ठ रत्न है। तू स्वयं ऐसे श्रेष्ठ चैतन्यरत्नों का महान भंडार है, और तू दूसरों से सुख की याचना करे, यह तो मीठे पानी के समुद्र में रहनेवाली मछली अपनी प्यास बुझाने के लिये दूसरों से पानी माँगे, उसके जैसा है। जिसप्रकार चक्रवर्ती राजा दूसरों से भीख माँगे, यह शोभा नहीं देता; तो चक्रवर्ती भी जिसकी सेवा करते हों—ऐसा यह महान चैतन्यचक्रवर्ती अपना सुख दूसरों से माँगने जाये, यह उसे शोभा नहीं देता। स्वयं अपने स्वभाव

के सेवन में ही आत्मा की शोभा है। हे जीव! तेरा रूप तो स्वाधीनरूप से परिपूर्ण है, उसके बदले पर के कारण मुझमें गुण होगा—ऐसा तू मानता है, वह तो तुझे मोह का भूत लगा हुआ है।

तेरा कारण-कार्यपना तुझमें है—यह बात समझाकर संतों ने अपूर्व स्वाधीनता का ज्ञान कराया है। स्वाधीन होने पर भी स्वयं अपने को पराधीन मान बैठा था। भाई! तेरे कार्य का कारण तुझमें ही है; पर के साथ तेरे किसी भी गुण का कार्य-कारणपना नहीं है, फिर अन्य को शोधने की बात कहाँ रही? अंतर्मुख होकर अपने स्वभाव को ही साधन बना। स्वभाव को साधनरूप से अंगीकार करने पर आत्मा स्वयं साधन होकर केवलज्ञानादि कार्यरूप परिणमन करता है। पर के अवलंबन से या राग के अवलंबन से आत्मा में केवलज्ञानादि कार्य हो, ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है। उसीप्रकार परवस्तुओं में भी ऐसा स्वभाव नहीं है कि वे आत्मा को कुछ भी दें, अथवा आत्मा का साधन हों।

अहा, कितना स्वाधीन स्वभाव! कितनी निराकुलता और कितनी शांति! अनंतगुण के वैभववाले इस आत्मा में ऐसा एक भी गुण नहीं कि जो राग को करे और कर्म के कारणरूप हो। आत्मगुणों के आश्रय से जो निर्मल परिणति प्रगट हुई, वह भी अन्य के (राग के अथवा कर्म के) कारणरूप नहीं होती। जो शुभराग होता है, उस राग का कारण होने का आत्मा का स्वभाव नहीं है; उसीप्रकार अपने स्वभावकार्य में राग को कारण बनाये, ऐसा भी आत्मा का स्वभाव नहीं है।—ऐसे स्वभाव को जिसने प्रतीति में लिया, उसको अकारण-कार्यस्वभाव का सम्यक् परिणमन प्रगट हुआ, इसलिये रागादि के कर्तृत्वरहित ज्ञानभावरूप ही रहता हुआ वह मोक्ष को साधता है।

शरीरादि के किसी भी कार्य का कारण हो, ऐसा एक भी स्वभाव आत्मा के द्रव्य में, गुण में या पर्याय में नहीं है। उसीप्रकार शरीरादि को कारण बनाकर आत्मा उससे किंचित् धर्म करे—ऐसा भी स्वभाव नहीं है। आत्मा को कुछ भी दे, ऐसा स्वभाव जड़ में नहीं और जड़ में से कुछ ले, ऐसा स्वभाव आत्मा में नहीं है। आत्मा को पर के साथ कारण-कार्यपने का अभाव है। कारण-कार्य की बात निकालकर पर के साथ का संबंध ही तोड़ डाला, इसलिये अब अपने त्रैकालिक द्रव्य-गुण के साथ ही पर्याय का संबंध हुआ। पर्याय पर से हटकर स्वद्रव्य की ओर उन्मुख हुई, अपने शुद्ध द्रव्य-गुण में एकाग्र होकर पर्याय भी वैसी निर्मल हुई। उस पर्याय में कहीं पर के साथ (राग के साथ) कारण-कार्यपने का संबंध नहीं है। इसका नाम धर्म और यही

मोक्ष का मार्ग है।

श्रीमद् राजचंद्रजी कहते हैं कि:—

छूटे देहाध्यास तो, नहीं कर्ता तू कर्म,
नहीं भोक्ता तू उसका, यही धर्म का मर्म।

उसीप्रकार यहाँ कहते हैं कि:—

छूटे राग अध्यास तो, नहीं कर्ता तू कर्म,
नहीं भोक्ता तू उसका, यही धर्म का मर्म।

'शरीर मैं, राग मैं और यह मेरा कार्य'—ऐसी जो राग के साथ एकत्वबुद्धि, उसके कारण अज्ञानी रागादि का कर्ता होता है। मैं तो ज्ञान हूँ, राग मैं नहीं हूँ, और राग मेरे ज्ञान का कार्य नहीं है, ऐसी पृथक्ता के अनुभव द्वारा जहाँ राग के साथ एकत्वबुद्धि का अध्यास छूट गया, वहाँ धर्मी जीव ज्ञानरूप ही परिणमन करता है, वह रागादि का कर्ता-भोक्ता नहीं होता। ऐसी दशा प्रगट हो, उसका नाम धर्म है।

अशुद्ध उपयोग के नाश के लिये धर्मी जीव कैसी मध्यस्थ भावना प्रगट करता है, उसका वर्णन करते हुए श्री प्रवचनसार में कहते हैं कि:—

मैं देह नहीं, वाणी न, मन नहीं, उनका कारण नहीं;
कर्ता न, कारियता नहीं, अनुमंता कर्ता का नहीं।

जिन्हें शरीरादि कार्यों के प्रति कर्तृत्वबुद्धि हो, उन्हें मध्यस्थता नहीं रह सकती। धर्मी जानता है कि मैं शरीरादि का आधार नहीं हूँ, कर्ता नहीं हूँ, कारण नहीं हूँ; मेरे आधार बिना, मेरे कर्तृत्व बिना, मेरे कारण बिना, वे स्वतंत्ररूप से परिणमन कर रहे हैं; इसलिये उनके पक्षपातरहित मैं अत्यंत मध्यस्थ हूँ। ज्ञानस्वरूप आत्मा का ऐसा मध्यस्थ स्वभाव है।

धर्मी ने ऐसे आत्मा का अनुभव किया है। सर्व आत्माओं का ऐसा ही स्वभाव है परंतु अज्ञानी उसे नहीं जानता, इसलिये विपरीत मानता है, और ज्ञानी उसे यथार्थ जानते हैं। आत्मा अन्य किसी का कुछ नहीं कर सकता, तब तो वह शक्तिहीन हो गया!—ऐसा अज्ञानी को प्रतीत होता है, परंतु भाई! तेरी स्वशक्ति तुझमें कार्य करेगी या पर में? यदि तेरा आत्मा पर के कार्य करे और परवस्तु तेरे आत्मा का कार्य करे—तो अपने कार्य के लिये तुझे पर के सामने ही देखने की पराधीनता रही! यह तो महा विपरीतता है, दु:ख है। तेरी स्वशक्ति तुझमें ही स्वाधीनरूप से

कार्य करती है। अपने कार्य के लिये तुझे पर की किंचित् अपेक्षा नहीं है। ऐसा अकारण-कार्यपना तेरे आत्मा में है, उसीप्रकार समस्त पदार्थों में है। तेरे अकारण-कार्यस्वभाव के कारण तेरी स्वशक्तियों में और उनकी पर्यायों में अकारण-कार्यपना है; तेरी एक भी शक्ति अथवा एक भी पर्याय में पर के साथ कारण-कार्यपना नहीं है। तेरा स्वभाव कारण और पर्याय कार्य; शुद्धस्वभावरूप जो कारण, उसका कार्य भी शुद्ध है; वास्तव में अशुद्धता, वह शुद्ध शक्ति का कार्य नहीं है। अशुद्धता का कारण हो, ऐसी एक भी शक्ति आत्मा में नहीं है। ऐसी शुद्धशक्तिवाले ज्ञानमात्र आत्मा को (शुद्धकार्यसहित) सम्यग्दृष्टि जीव देखता है।

महात्मा कहते हैं कि—अरे आत्मा! भगवान तीर्थंकरदेव ने ऐसा आत्मा स्वयं अनुभव करके कहा है, संतों ने अपने अंतर में ऐसे आत्मा का अनुभव किया है। अपने ऐसे आत्मा को भूलकर तूने चारगति में भ्रमण किया है और महादुःख भोगे हैं। तेरा स्वभाव महान है और तेरे दुःख की विकथा भी महान है। उस दुःख को मिटाने के लिये और आत्मिक सुख प्राप्त करने के लिये यह बात है। अपने स्ववैभव को सम्हाले तो उसमें कहीं भी दुःख नहीं है। जैनशासन में वीतरागी संतों ने ऐसे आत्मवैभव की प्रसिद्धि की है। *[आत्मवैभव का एक प्रकरण]*

स्वानुभूति का सुख

अनादिकाल से स्वरूप को भूलकर, सम्यग्दर्शन के बिना संसार में परिभ्रमण करता हुआ यह जीव समस्त परभावों को पुनः पुनः भोग चुका है; संसार संबंधी समस्त दुःख-सुख इसने भोग लिये हैं, परंतु अपने स्वरूप के वास्तविक सुख का एक क्षणमात्र भी उपभोग नहीं किया... कि जिस सुख के समक्ष जगत के सर्व इन्द्रियसुख नीरस हैं। इन्द्रियसुखों से आत्मिकसुख की जाति ही भिन्न है—जिसप्रकार इन्द्रियों की और आत्मा की भिन्नता है। हे जीव! ज्ञानस्वभाव के अवलंबन द्वारा सम्यग्दर्शन का प्रयत्न करके स्वानुभूति में अपने इस सुख का तू उपभोग कर!

मोक्ष के लिए किसकी सेवा करें ?

श्री जिनेश्वर भगवान के द्वारा कहे हुए तत्त्व का अर्थात् आत्मा के स्वरूप का यह एक महान रहस्य है कि अपने को परमात्मा होने के लिये, मोक्ष प्राप्त करने के लिये बाह्य में किसी अन्य की सेवा करना पड़े, ऐसी पराधीनता नहीं है। मोक्ष के लिये जिसकी सेवा करना है, वह सेवा योग्य स्वयं ही है; मुमुक्षु स्वयं अपने शुद्धस्वरूप की सेवा करके (अर्थात् उसका ज्ञान-श्रद्धान-अनुचरण करके) मोक्षदशा की प्राप्ति करता है।

पंच परमेष्ठी भगवान की सच्ची सेवा भी इसीप्रकार हो सकती है—क्योंकि पंच परमेष्ठी भगवान वीतरागी हैं, इसलिये उनकी सेवा वीतरागभाव द्वारा ही हो सकती है; राग के सेवन से वीतराग का सेवन नहीं हो सकता; इसलिये आचार्यदेव ने ३१वीं गाथा में कहा है कि तुझे अरिहंतों की परमार्थ सेवा करनी हो तो अतीन्द्रिय होकर अपने शुद्धात्मा को अनुभव में ले।

मोक्षार्थी जीव 'जीवराजा' की (उत्कृष्ट आत्मस्वरूप की) सेवा किसप्रकार करे, वह यहाँ गाथा १७-१८ में स्वामीजी समझाते हैं।

मोक्षार्थी जीव आत्मा की साधना किसप्रकार करे ?—यह बात राजा के दृष्टांत द्वारा आचार्यदेव समझाते हैं। (समयसार, गाथा १७-१८)। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो निर्मलपर्याय, वही आत्मा के मोक्ष की सिद्धि का कारण है, इसलिए धर्मात्मा जीवों ने सदा उस दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन किया और वे निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्र पर्यायें आत्मा के साथ अभेद हैं, इसलिये परमार्थ से एक आत्मा का ही सेवन करना चाहिए—ऐसा उपदेश है। इसमें कहीं पर भी राग का सेवन नहीं आया। अभेद से कहो तो शुद्ध आत्मा का ही सेवन करना चाहिए, और भेद से-पर्याय से कहो तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करना चाहिए—यह मोक्ष को साधने की विधि है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से साध्य की सिद्धि नहीं होती।

जिसप्रकार धन का अभिलाषी जीव राजा की सेवा करता है, राजा को पहिचानता है,

श्रद्धा करता है और उसका ही अनुसरण करता है—ऐसे उद्यम द्वारा सर्वप्रकार से उसकी सेवा करके राजा को प्रसन्न करता है; और राजा उसे धन देता है। उसीप्रकार मोक्ष का अभिलाषी मुमुक्षु जीव शुद्ध चैतन्यराजा की सेवा करता है; तीन लोक में श्रेष्ठ, अनंती केवलज्ञान संपदा का स्वामी ऐसा यह जीवराजा है—अपने निजगुणों से जो शोभायमान हो, वह राजा; ऐसा चिदानंद जीवराजा मैं ही हूँ, इसप्रकार अंतर से यत्नपूर्वक बराबर पहिचानकर श्रद्धा करे और पश्चात् उसी में लीन होवे; ऐसा करने से अवश्य मोक्ष की साधना होती है, अन्य प्रकार से मोक्ष की साधना नहीं होती।

आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय के अथवा शुद्ध-अशुद्ध के विकल्प करने में रुका रहे, तो कहीं आत्मा की साधना नहीं होती अर्थात् वह अनुभव में नहीं आता, श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र जो कि रागरहित है, उनके द्वारा ही आत्मा अनुभव में आता है। ऐसा अनुभव ही मोक्षमार्ग है।

अहा, आत्मा की सेवा किसप्रकार करना! उसकी यह अपूर्व बात है। स्वयं अपनी सेवा करना जीव को नहीं आया है। पर की सेवा तो शुभराग है, वह कहीं मुक्ति का साधन नहीं; पर की सेवा की बात तो दूर रही, यहाँ तो अपने आत्मा में भी 'मैं एक हूँ, अनेक हूँ' इत्यादि रागमिश्रित विचार द्वारा भी आत्मा की सच्ची सेवा नहीं होती; अंतर्मुख अवलोकन द्वारा सम्यक् पहिचान, श्रद्धा और एकाग्रता द्वारा ही अपने आत्मा की सच्ची सेवा होती है; आत्मराजा की ऐसी सेवा, वही मोक्ष का साधन है; उसका यहाँ उपदेश है। ऐसी सेवा वह परम धर्म है। सेवा अर्थात् आराधना, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह आत्मा की सेवा है।

देखो, मोक्ष के लिए किसकी सेवा करें? किसकी सेवा करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है? उसे यहाँ समझाते हैं? शुद्ध आत्मा को जानकर उसके सेवन से मोक्ष की प्राप्ति होती है। पर के सेवन से या पुण्य के सेवन से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। सम्यग्दर्शन भी शुद्ध आत्मा के सेवन से प्राप्त होता है, राग के सेवन से प्राप्त नहीं होता, उसीप्रकार सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भी शुद्धात्मा की सन्मुखतारूप सेवा से प्राप्त होता है, शुभराग से प्राप्त नहीं होता। शुद्ध आत्मा की ऐसी सेवा करे, तभी उसने ज्ञानी की सच्ची सेवा की, ऐसा कहने में आता है।

अज्ञानी जीव आत्मा को परभावों से पृथक् नहीं जानते और ज्ञान से अन्य ऐसे परभावों के साथ एकमेकरूप मानकर अशुद्ध आत्मा का ही सेवन करते हैं, शुद्ध आत्मा की सेवा करना उन्हें नहीं आता; श्रीगुरु उन्हें भेदज्ञान कराकर शुद्ध आत्मा का स्वरूप समझाते हैं कि भाई! तेरा

आत्मा सर्व परभाव से पृथक् ज्ञानमात्र ही है; ज्ञान ही तेरा लक्षण है; ज्ञानलक्षण द्वारा आत्मा को अनुभव में ले। 'ज्ञान' ही तेरा 'भाव' है, वही तेरा लक्षण है, इसके अतिरिक्त अंतर का शुभ विकल्प, वह भी तेरा सच्चा स्वरूप नहीं। उस विकल्प से ज्ञान को एकमेक करने से सच्चे आत्मा का वेदन नहीं होगा, उसमें तो अशुद्धभाव का ही सेवन होगा, अशुद्धभाव का सेवन, वह संसार है; शुद्ध आत्मा का सेवन, वह मोक्ष का साधन है।

शुद्ध आत्मा का सेवन-अवलोकन अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा होता है। स्वसन्मुख संवेदन-प्रत्यक्षरूप जो अतीन्द्रिय भावश्रुत, उसके द्वारा आत्मा श्रद्धा-ज्ञान और अनुभव में आता है। राग को-विकल्प को या इन्द्रियज्ञान को साधन बनाकर आत्मा को अनुभव में लेना चाहे तो वह कभी अनुभव में नहीं आ सकता।

आत्मा की आराधना समझाने के लिए आचार्यदेव ने दृष्टांत भी उत्तम ऐसे राजा की सेवा का दिया है। राजा अर्थात् श्रेष्ठ; जगत में यह चिदानंद भगवान ही श्रेष्ठा जीव-राजा है, रागादि द्वारा जिसकी शोभा नहीं, अपने अनंत गुण की अनुभूति द्वारा ही जो स्वयं शोभायमान होता है।—ऐसा आत्मा अनुभूतिस्वरूप मैं ही हूँ, ऐसी पहिचान सहित निःशंक श्रद्धा करे और उसी में लीन हो—वह मोक्ष की प्राप्ति की विधि है। इसप्रकार मोक्ष की साधना होती है, अन्य प्रकार से मोक्ष की साधना नहीं होती।

जो वास्तव में मोक्ष का अर्थी हो, संसार के परभावों से थककर अंतर में आत्मा की शांति को खोजता हो, ऐसे मोक्षार्थी जीव को क्या करना, उसके लिए यह उपदेश है। जिसप्रकार धन को चाहनेवाला प्राणी, जिसके पास धन का भंडार भरा हो, ऐसे राजा की सेवा करता है; उसीप्रकार जिसे सुख की चाहना है, शांति की चाहना है, वह शांति का भंडार जहाँ भरा है, ऐसे चैतन्यराजा की सेवा करता है। राजा ऐसा उदार होता है कि सेवा करनेवाले को धन देकर दरिद्रता दूर करता है; उसीप्रकार यह जीवराजा ऐसा महान है कि अंतर्मुख होकर उसकी सेवा (श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता) करनेवाले को परम ज्ञान-आनंद देकर दुःख दूर करता है। आत्मराजा के सन्मुख होकर जो उसकी सेवा करे, उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिये स्वरूप की प्राप्ति के इच्छुक ऐसे आत्मार्थी जीवों को इस ज्ञानस्वरूप आत्मा की निरंतर सेवा करनी चाहिए। उसी की सेवा से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

'भावनगर' के राजा के पास एकबार एक मनुष्य आया; राजा ने पूछा—किसलिए

आना हुआ ? तब वह कहता है कि—महाराज ! भरे हुए सरोवर के पास तो प्यासे प्राणी आते हैं... उसकी योग्यता देखकर राजा ने तुरन्त आज्ञा देकर उसे अच्छी पदवी दी। उसीप्रकार आत्मा का जिज्ञासु होकर जो जीव चैतन्यराजा की सेवा (आराधना) करने आया और अंतर्मुख होकर उसकी पहिचान करके श्रद्धा की, उसके लिये चेतनराजा मोक्ष की आज्ञा करते हैं कि इसको सिद्धपदवी दो। राजा को बराबर पहिचानकर उसकी सेवा करता है, उसीप्रकार चैतन्यस्वरूप जीवराजा की पहिचान करना चाहिए; पहिचान करके उसका अनुभव करने पर अवश्य मोक्षदशा प्रगट होती है।

जिनको आत्मा का कल्याण करना हो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा सिद्धि प्राप्त करना हो, उसे किसकी सेवा करनी, वह बात समझाते हैं। जिसको जो प्रिय हो, वह उसकी सेवा करता है; और स्वयं जिसकी सेवा करता है, उसके जैसा होना चाहता है, तो यहाँ जिनको शुद्धता प्राप्त करना हो, उन्हें शुद्ध ऐसे अपने आत्मा को जानकर उसकी सेवा करनी चाहिए। सेवा करना अर्थात् क्या ?—कि उसका स्वरूप समझकर श्रद्धा करे कि 'ऐसा ज्ञानस्वरूप आत्मा ही मैं हूँ', ऐसी श्रद्धा करके उसी का अनुसरण-उसी में एकाग्रता करे; राग का अनुसरण नहीं करे, उसके सेवन में किंचित् हित न माने; उससे ज्ञानस्वरूप की भिन्नता जानकर ज्ञान की ही सेवा करे। ज्ञान की अनुभूतिस्वरूप ही मैं हूँ। इसप्रकार अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा की सेवा करने पर उसकी प्राप्ति होती है, सिद्धि होती है। मोक्ष के लिये यही उपाय है, अन्य उपाय से मोक्ष नहीं होता।

मोक्षार्थी जीव को क्या करना ?

प्रथम तो, जिसकी सेवा करने से मोक्ष होता है, उस शुद्ध आत्मा का स्वरूप सर्वप्रकार के लक्षणों द्वारा बराबर पहिचाने। वह पहिचान किसप्रकार होती है ? कि स्वालंबी ज्ञान द्वारा सच्ची पहिचान होती है। अपने स्वभाव की जाति का जो अपना ज्ञानअंश, उस ज्ञान द्वारा आत्मा स्वसंवेदन में आता है। रागादि भाव वह पृथक् जाति के हैं, चैतन्यजाति के वे नहीं हैं; इसलिए उन रागादि के अनुभव द्वारा आत्मा के स्वभाव का अनुभव नहीं होता, पहिचान नहीं होती। ज्ञानदशा को अंतर्मुख करके साक्षात् ज्ञान का अनुभव करने पर उस स्वसंवेदन में आत्मा ज्ञात होता है; और ऐसे अंतर्मुख ज्ञानसहित उसकी सच्ची श्रद्धा होती है कि 'यह जो ज्ञानवेदन में आया, वही मैं हूँ' ऐसे श्रद्धा-ज्ञान करके पश्चात् उस आत्मा का ही सेवन करने से मुक्ति होती है। जो स्वरूप जाना, उसमें स्थिर हुआ; परंतु जिसने अपने स्वरूप को जाना ही नहीं, वह कहाँ

स्थिर होगा ? १४-१५ गाथा में जो शुद्ध-आत्मस्वरूप बतलाया, उस शुद्ध आत्मा के सेवन में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों आ जाते हैं, इसलिये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन कहो या एक शुद्ध आत्मा का सेवन कहो, वह मोक्ष का उपाय है। इसलिये हे भव्य जीवो! तुम उसका सेवन करो।

प्रथम ज्ञान कर कि मैं तो ज्ञान के अनुभवरूप हूँ। यह शरीर मैं नहीं हूँ, रागादि-भाव मैं नहीं हूँ; जो ज्ञानरूप अनुभव में आता है, वही मैं हूँ।—ऐसे ज्ञान की अनुभूति, वह आत्मा की अनुभूति है, ऐसे ज्ञानस्वरूप से स्वयं अपने को पहिचानना—उस पहिचान में श्रद्धा और अनुभव का समावेश होता है। आनंदमय आत्मा के अनुभवसहित ऐसा ज्ञान-श्रद्धान होता है। आत्मा का यथार्थ स्वरूप जानने पर और श्रद्धा में लेने पर उसका आनंद साथ ही अनुभव में आता है। अरे, आत्मा के आनंद का ऐसा मार्ग, उसे विचार में तो ले। आनंद का मार्ग कहो कि मोक्ष का मार्ग कहो; मोक्ष अर्थात् पूर्ण आनंद; उसका मार्ग भी आनंदरूप है।

अरिहंत का स्वरूप जानने पर आत्मा का शुद्धस्वरूप जानने में आता है; अरिहंत के जैसे शुद्ध द्रव्य-गुण हैं, वैसे ही मुझमें हैं—ऐसा लक्ष में लेकर स्वसन्मुख हुआ, वहाँ पर्याय भी शुद्ध हुई; और तब अरिहंत जैसे अपने आत्मा को पहिचाना, इसलिए सम्यग्दर्शन हुआ। अज्ञानी को शुद्धस्वरूप किसप्रकार समझाया जाये ? इसलिये उसे अरिहंत का आदर्श देकर शुद्धस्वरूप समझाया कि भाई! देख, यह अरिहंत का आत्मा जैसा शुद्ध है, वैसा ही शुद्ध तेरा आत्मा है।—ऐसे आत्मा को लक्ष में लेकर निःशंका श्रद्धा की, और पश्चात् अत्यंत धैर्य से उसी में परिणाम एकाग्र करके लीन हुआ, वह मोक्षमार्ग है। ऐसे ही मार्ग द्वारा अनंत तीर्थंकर भगवान सिद्धि को प्राप्त हुए हैं, और ऐसे ही मार्ग का उन्होंने जगत को उपदेश दिया है। यही मार्ग सीमंधर भगवान के निकट सुनकर और स्वयं अनुभव करके श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने इस समयसार शास्त्र में प्रसिद्ध किया है। हे जीवो! तुम अपने अनुभूतिस्वरूप जीवराजा को पहिचान कर, उसकी श्रद्धा करो तथा उसी में एकाग्रतारूप आचरण करो।—ऐसा करने से तुम्हें परमानंदरूप मोक्ष की प्राप्ति होगी।

आचार्यदेव अप्रतिबुद्ध को प्रतिबोधते हैं

[ऐसा भेदज्ञान कराते हैं कि जिसके होते ही जीव आनंदित हो उठे]

अप्रतिबुद्ध कौन है ?

जो अज्ञानी, जीव और शरीर को एक मानते हैं, राग और ज्ञान को एकरूप अनुभव करते हैं; शरीर और राग से पृथक् ज्ञानस्वरूप आत्मा का बोध नहीं करते, वे अप्रतिबुद्ध हैं।

यहाँ आचार्यदेव किसको समझाते हैं ? यहाँ आचार्यदेव भिन्न आत्मा का स्वरूप समझाते हैं कि—अरे भाई ! आत्मा तो उपयोगस्वरूप है; सर्वज्ञ भगवान ने केवलज्ञान में तो जीव को उपयोगस्वरूप देखा है; जीव उपयोगस्वरूप है, वह कहीं जड़रूप अथवा रागरूप नहीं है। अहो, ऐसा उपयोगस्वरूप आत्मा, उसे तुम पहिचानो, और पुद्गलबुद्धि को छोड़ो।

चैतन्यभाव में विद्यमान आत्मा स्वयं अपने को भूलकर, रागादि परभावों को—दुर्भावों को अपना स्वरूप मानकर उसमें एकाग्र हुआ है, इसलिये वह दुरात्मा है। अपने स्वभावरूप 'भाव-नगर' का रहनेवाला दुर्भाव-नगर में चला गया, रागादि दुर्भावों का ही वह अनुभव करता है। ऐसे अविवेकी दुरात्मा को (आत्मा से जो दूर है, ऐसे दुरात्मा को अथवा रागादि दुर्भावरूप ही जो अपने को अनुभव करता है, ऐसे दुरात्मा को) समझाते हैं कि अरे दुरात्मा ! उपयोगस्वरूप अपने को जड़ के साथ एकमेक क्यों मानता है ? जिसप्रकार लड्डू और घास के विवेक से रहित पशु दोनों को एकमेक करके खाता है, उसीप्रकार तू उपयोग को और राग को एकमेकरूप से अनुभव कर रहा है—वह अविवेक है; ऐसे अविवेक को तू छोड़ रे छोड़ ! भगवान सर्वज्ञदेव का देखा हुआ जीव तो सदा उपयोगस्वरूप है; उन्होंने उपयोग को जीव का लक्षण कहा है, परंतु भगवान ने कहीं रागलक्षणवाला अथवा शरीरवाला जीव नहीं कहा है। भगवान के कहे हुए जीव की तू पहिचान नहीं करता और पुद्गल को ही जीव मान रहा है, वह महान अविवेक है; उसमें आत्मा की हिंसा है, दुर्बुद्धि है; उसको अब तू छोड़ दे। अब तक का काल अज्ञान से जड़-चेतन की एकत्वबुद्धि में व्यतीत हुआ, परंतु अब हमने दोनों का भेदज्ञान कराया, उसे समझकर तू प्रतिबुद्ध हो, और दोनों की एकत्वबुद्धि छोड़ दे।

आत्मा उपयोगस्वरूप से नित्यस्थायी है; परंतु राग कहीं नित्यस्थायी नहीं है, उपयोग से उसकी जाति भिन्न है। जिसप्रकार नमक गलकर खारे पानीरूप हो जाता है, उसीप्रकार उपयोग गलकर कभी रागरूप या जड़रूप नहीं हो जाता। उपयोग तो सदा उपयोगरूप ही रहता है।

प्रवाहीपन में और खारेपन में विरोध नहीं, दोनों एकरूप से साथ रह सकते हैं, परंतु उनकी भाँति उपयोग और जड़ दोनों साथ में एकरूप से नहीं रह सकते; उनको तो एकरूप रहने में विरोध है। आत्मा तो उपयोगरूप है और शरीर-रागादि तो अनुपयोगरूप हैं, आत्मा का उपयोग गलकर कहीं जड़ के साथ तन्मय नहीं होता, इसलिये पुद्गल को और जीव को एकरूप से अनुभव करना, वह मिथ्या है। जड़ और चेतन कभी भी एक हो नहीं सकते, इसलिये तू सर्वप्रकार से प्रसन्न हो; चित्त को उज्ज्वल करके, सावधान होकर स्वद्रव्य को अपनेरूप अनुभव में ले। ऐसा भेदज्ञान करते ही आत्मा आनंदरूप-प्रसन्नरूप होगा। शरीरबुद्धि में दुःख है, शरीर से भिन्न उपयोगस्वरूप मैं हूँ—ऐसी आत्मबुद्धि में सुख है।

अरे, शरीर और आत्मा सदा अपने-अपने लक्षण से भिन्न ही हैं। जो भिन्न हैं, उन्हें भिन्न नहीं जानता और एक मानता है। एक मानने से उन दोनों का एकरूप कभी नहीं होता। भाई! जो भिन्न हैं, उन्हें भिन्न जान-तो तुझे अपने स्वद्रव्य की प्राप्ति से आनंद होगा-प्रसन्नता होगी।

जगत में चेतन और जड़ भले ही एक साथ हों, परंतु वे एक हो नहीं जाते, अपने-अपने स्वरूप में ही रहते हैं। तेरा भाग अलग और जड़ का भाग अलग; उपयोग वह तेरा भाग है, और जड़ वह पुद्गल का भाग है।—इसप्रकार अपने भाग को लेकर तू प्रसन्न हो। तेरे भाग को किसी ने लूट नहीं लिया, तेरा भाग ज्यों का त्यों है। पुद्गल के भाग का स्वामी होने जायेगा तो दुःखी होगा। उसमें भिन्न उपयोगरूप तेरा भाग है, उसी को अनुभव में ले। उसके अनुभव से तुझे आनंद होगा।

जड़ द्वारा तेरा अस्तित्व किंचित् खेद-खिन्न नहीं हुआ है, दवा नहीं है; जड़ से भिन्न ज्यों का त्यों तेरा अस्तित्व अनादि से है; इसलिए उल्लसित होकर अपने स्वद्रव्य को देख। पुद्गल अथवा रागादि ने तेरे उपयोगस्वरूप में प्रवेश नहीं किया है, उससे बाहर ही रहे हैं, इसलिए ऐसे उपयोगस्वरूप को अनुभव में लेकर आनंदित हो। जिसप्रकार दीर्घकाल से खोयी हुई वस्तु घर में मिल जाये तो आनंदित होता है; उसीप्रकार अनादि से भूला हुआ, जड़ के साथ एकत्वबुद्धि

से खोया हुआ तेरा आत्मा तुझे अपने में जड़ से भिन्न बतलाया, तो अब ज्यों की त्यों अपनी स्ववस्तु को प्राप्त करके तू आनंदित हो।

शरीर को ही आत्मा मानते हैं, वह तो स्थूल भूल है; परंतु पर की ओर के रागभाव को जो उपयोग के साथ एकमेक मानते हैं, राग से भिन्न उपयोग का अनुभव नहीं करते, तो वे भी वास्तव में अजीव को ही आत्मा मानते हैं, जीव के उपयोगगुण को पहिचानकर जीव के गुणों की स्तुति करना उन्हें नहीं आता; इसलिये सर्वज्ञ भगवान की भी परमार्थ-स्तुति करना उन्हें नहीं आता। भगवान आत्मा के सच्चे गुण (राग से पृथक्) क्या हैं, उन्हें तो वह जानता नहीं है, तो वह भगवान के गुणों को जाने बिना उनकी सच्ची स्तुति कहाँ से कर सकेगा? भगवान के गुणों की सच्ची स्तुति सम्यग्दृष्टि ही करता है। भगवान जैसे अपने गुणों को भी उसने जाना है।

आचार्यदेव आत्मगुणों की पहिचान कराते हुए कहते हैं कि—भाई, आत्मा और शरीर की एकत्वबुद्धि को तू छोड़.... क्योंकि आत्मा का एक भी गुण शरीर में नहीं है, आत्मा कभी अपने उपयोगपने को छोड़कर शरीररूप नहीं होता। आत्मा और शरीर सदा अत्यंत भिन्न ही हैं।

जड़-चेतन का इतना स्पष्ट भेदज्ञान कराने पर भी जो नहीं समझता, और शरीरादि को ही आत्मारूप अनुभव करता है, उसे उसका अज्ञान छुड़ाने के लिये आचार्यदेव कहते हैं कि हे दुरात्मा! अपनी इस पशु जैसी प्रवृत्ति को तू छोड़... छोड़! जिसमें आत्मा का घात होता है, ऐसी मिथ्याबुद्धि को तू छोड़! जिसप्रकार पशुओं को लड्डू और घास के बीच विवेक न होने से दोनों को एकमेक करके खाते हैं, उसीप्रकार तू भी उपयोग को और शरीर को एकमेक अनुभव करता है, उस दुर्बुद्धि को छोड़ दे। चैतन्यस्वभाव को भूलकर शरीर को अपना माना, इसलिए आत्मा को जड़ माना है, उसमें तेरे चैतन्यस्वभाव की हिंसा होती हैं; ऐसी आत्महिंसा को तू छोड़, और शरीर से पृथक् शुद्ध उपयोगस्वरूप आत्मा है, उसे अनुभव में ले।

अत्यंत पुरुषार्थ की जागृतिपूर्वक भेदज्ञान करके आत्मा का अनुभव करने के लिये आचार्यदेव पुनः पुनः उपदेश देते हैं।.....

सोनगढ़ में

धार्मिक अध्ययन की योजना

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का ८०वाँ जन्मोत्सव बम्बई में रत्नचिन्तामणि-महोत्सव के रूप में आगामी वैशाख शुक्ला द्वितीया को हर्षोल्लास सहित मनाया जा रहा है। जिसके उपलक्ष में श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ ने धार्मिक अध्ययन की एक योजना बनायी है—जिसकी रूपरेखा निम्न प्रकार है:—

(१) जैनधर्म में रुचि रखनेवाले कोई भी त्यागी अथवा सुयोग्य विद्वान सोनगढ़ में रहकर धार्मिक अध्ययन करें। पूज्य आत्मज्ञ संत श्री कानजीस्वामी के प्रवचनों का प्रतिदिन श्रवण करते हुए यहाँ चलनेवाले शिक्षणशिविर में रुचिपूर्वक अभ्यास करें और जो विषय अभ्यासक्रम में रखे जायें, उनमें निपुणता प्राप्त करें।

(२) इसप्रकार जो विद्वान या त्यागी नियमितरूप से दो महीने तक उपस्थित रह सकते हों, उनके लिये यहाँ निवासस्थान एवं भोजनादि की समुचित व्यवस्था कर दी जायेगी। तदुपरांत जिन्हें आने-जाने के लिये मार्ग-व्यय की आवश्यकता मालूम होगी, उन्हें वह भी दिया जायेगा।

(३) शास्त्राभ्यास में निपुणता प्राप्त करने के पश्चात् उन्हें धर्मप्रचारार्थ बाहर भेजा जायेगा। वहाँ वे, पूज्य स्वामीजी जिन जैनसिद्धांतों का प्रतिपादन करते हैं, तदनुसार उपदेश जैन जनता को दें, शिक्षणशिविर खोलें और उनमें विद्यार्थियों एवं प्रौढ़ों को धार्मिक अभ्यास करायें।

(४) जो गृहस्थ विद्वान प्रचार कार्य हेतु जायेंगे, उन्हें योग्यतानुसार वेतन भी दिया जायेगा।

(५) अनुकूल समय पर ऐसे शिक्षणशिविर यहाँ सोनगढ़ में खोले जायेंगे और वे कम से कम दो महीने तक चलेंगे। इसप्रकार वर्ष में तीन बार शिविरों का आयोजन किया जायेगा। फिलहाल दो वर्ष के लिये यह योजना बनायी जा रही है। ऐसा पहला शिक्षणशिविर संभवत: मई महीने में प्रारंभ हो जायेगा।

(६) जो सज्जन उपरोक्त योजना का लाभ उठाना चाहें, वे अपनी शिक्षा (धार्मिक तथा लौकिक), उम्र, वर्तमान कार्य आदि का संपूर्ण विवरण देते हुए निम्नोक्त पते पर पत्र-व्यवहार करें।—जिन्हें पसंद किया जायेगा, उन्हें उचित समय पर सूचना दी जायेगी और तब उन्हें यहाँ आना होगा।

नवनीतलाल सी. जवेरी
प्रमुख
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सोनगढ़
तारीख ४-१-६८

शांति का हिमालय

अहो, जगत में यह चैतन्यस्वभाव तो शांति का पर्वत है। 'हिमालय' अर्थात् बर्फ का पर्वत; उसीप्रकार यह चैतन्यस्वभावी आत्मा परमशांति का हिमालय है। जिसप्रकार ग्रीष्मऋतु की गर्मी में हिमालय के बीच जाकर बैठे तो कैसी शीतलता का अनुभव हो! उसीप्रकार परभावों की आकुलता से जलते हुए इस संसार में यदि शांतरस के हिमालय ऐसे आत्मस्वरूप में जाकर बैठे तो उपशांतरस की परम शीतलता अर्थात् निराकुल शांति का अनुभव होता है। प्रभु! एक बार ऐसे तेरे गुण में दृष्टि तो दे। अपने गुण के कार्यों को पहिचानकर उसकी शांति का स्वाद एक बार चख तो सही!—बाद में तुझे अपने इस शांतरस के समक्ष समस्त संसार नीरस लगेगा—जलते हुए अंगार जैसा लगेगा। जिसप्रकार बर्फ, वह शीतलता का पिण्ड है; उसीप्रकार यह चैतन्यप्रभु मात्र आनंद का पिण्ड है; इसमें शांतरस का समुद्र भरा हुआ है। ऐसे तेरे स्वभाव में जाकर दृष्टि तो दे; इसमें विकार का अंश ही नहीं है। विकार का स्पर्श भी तेरे स्वभाव में नहीं है। ऐसे स्वभाव की शांति में संत विराजमान होते हैं, और जगत के लिये भी उन्होंने ऐसे स्वभाव की प्रसिद्धि की है। अरे, जगत के जीवो! अपने ऐसे अद्भुत आत्मवैभव को तुम पहिचानो... रे... पहिचानो... जगत की उष्णता से छूटने के लिये शांति के इस हिमालय में आओ...!

अत्यंत मधुर चैतन्यरस

उसका अनुभव करनेवाले ज्ञानी कैसे होते हैं ?

[साधक के अंतर की अनुभवदशा को दरशानेवाला एक भाववाही प्रवचन]

यह आत्मा अनादि से अज्ञानीरूप वर्त रहा है, उसे अपने स्वभाव के स्वाद का भेदज्ञान नहीं है अर्थात् दोनों को एकमेकरूप से अनुभव करता है। शरीर से भिन्नत्व की बात तो स्थूल-मोटी बात हुई; किंतु अंतर के अरूपी विकल्पों से भी चैतन्य की भिन्नता बताना है। अज्ञानी को भेदज्ञान की शक्ति ढँक गयी है; भेदज्ञान प्रगट करने की शक्ति तो प्रत्येक आत्मा में है, किंतु अज्ञानी उस शक्ति को प्रगट नहीं करता, अपने अज्ञानवश स्व-पर को एकमेक मानता है, ज्ञान और राग का एकमेक अनुभव करता है। 'मैं चैतन्य हूँ'—ऐसा स्वानुभव करने के बदले 'मैं क्रोध हूँ, मैं राग हूँ'—इसप्रकार अज्ञानचेतना का ही अनुभव करता है। अहो, दिव्यध्वनि चैतन्य के एकत्वस्वभाव की प्रसिद्धि करती है। गणधर-संत और चारों अनुयोग के शास्त्र भेदविज्ञान का ढ़िंढोरा पीटते हैं कि—चैतन्यस्वभाव तो अनादि-अनंत, अकृत्रिम, निर्मल, विज्ञानघन है, और रागादिभाव तो क्षणिक, नये, पराश्रय से उत्पन्न-मलिन भाव हैं;—उनमें चैतन्य का एकत्व कैसे होगा ?—नहीं होता। किंतु अज्ञानी ऐसे वस्तुस्वभाव से भ्रष्ट होकर बारंबार अनेक विकल्पोंरूप परिणमित होता हुआ उनका कर्ता प्रतिभासित होता है।

यहाँ तो वह कर्तृत्व छूटने की बात समझायी है। 'रागादि का कर्तृत्व अज्ञान से ही है'—ऐसा जो जीव जानता है, वह राग के कर्तृत्व को सर्वथा छोड़ता है। मेरे चैतन्यस्वभाव में राग का कर्तृत्व है ही नहीं। राग की खान मेरे चैतन्य में नहीं है। मेरी चैतन्यखान में तो निर्विकल्प अनाकुल शांतरस भरा है। शांतरस का स्वाद ही मेरा स्वाद है; शुभाशुभराग आकुलता है, वह मेरा स्वाद नहीं है, वह तो राग का स्वाद है। इसप्रकार दोनों के स्वाद को सर्वथा भिन्न जानता हुआ ज्ञानी, चैतन्य का तथा राग का एक स्वादरूप कभी भी अनुभव नहीं करता, किंतु चैतन्य के स्वाद का राग से भिन्न ही अनुभव करता है। चैतन्य के आनंदनिधान को पहले तो अज्ञान के कारण ताले में बंद कर रखा था, वह भेदविज्ञानरूपी कुंजी के द्वारा खोल दिया; चैतन्य के आनंदनिधान को प्रगट करके उसका स्वसंवेदन किया। जहाँ अपने निजरस

को जाना, वहाँ विकार का रस छूट गया, उसका कर्तृत्व-ममत्व सर्वथा छूट गया। पहले निरंतर विकार का स्वाद लेता था, उसके बदले अब निरंतर स्वभाव के आनंद का स्वाद लेता है।

देखो, यह चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा की दशा! जो साधक हुआ है, जो मोक्ष के मार्ग में लगा है, अंतर में जिसको चैतन्य से भेंट हुई है, ऐसे धर्मात्मा ज्ञानी मति-श्रुतज्ञान द्वारा चैतन्य के अतीन्द्रिय आनंद का संवेदन करते हैं। अहा, चैतन्य का रस भिन्न जाति का है। इन्द्रपद के वैभव में वह रस नहीं है। सम्यग्दृष्टि इन्द्र जानता है कि हमारे चैतन्य के अतीन्द्रिय स्वाद के सामने यह इन्द्रपद तो क्या, सारे जगत का वैभव भी तुच्छ है। चैतन्य का रस अत्यंत मधुर... अत्यंत शांत! अत्यंत निर्विकार... जिसके स्वसंवेदन से ऐसी तृप्ति होती है कि सारे जगत का रस उड़ जाता है! शांत-शां...त... चैतन्य का मधुर संवेदन हुआ, वहाँ आकुलताजन्य कषायों का कर्तृत्व कैसे रहे? कषायों से अत्यंत भिन्नता की प्रतीति हो गई है। देखो, स्वसन्मुख होकर ऐसे स्वाद का स्वसंवेदन करने की मति-श्रुतज्ञान की शक्ति है। मति-श्रुतज्ञान को स्वसन्मुख करके धर्मात्मा ऐसे चैतन्यस्वाद का प्रत्यक्ष स्वसंवेदन करता है।

अहा, देखो तो! आचार्यदेव ने कैसे शांत भाव भरे हैं! अमृत का सागर उछलने लगे, ऐसी बात अमृतचंद्राचार्यदेव ने इस समयसार में समझायी है।

साधक की अंतरंग स्थिति क्या है, उसकी जगत के जीवों को खबर नहीं है, उनके हृदय के गंभीर भावों को जानना साधारण जीवों को कठिन लगता है; परंतु समझना चाहे तो सब सुगम है। इन भावों को समझे तो अमृत का सागर उछलने लगे और विष का स्वाद छूट जाये। यह भेदज्ञान की महिमा है। भेदज्ञान होते ही जीव की ऐसी दशा होती है। ज्ञानी धर्मात्मा चैतन्यरस के स्वाद के समक्ष जगत के सभी स्वादों के प्रति उदासीन हो गया है; रागादिक को भी अत्यंत उदासीन अवस्थावान रहकर मात्र जानता ही है, किंतु उनका कर्ता नहीं होता। इसप्रकार ज्ञायकस्वभाव को ही स्वरूप से अनुभवता हुआ ज्ञानी निर्विकल्प-अकृत्रिम-एक विज्ञानघनरूप परिणमित होता हुआ अन्यभावों का अकर्ता ही है।—ऐसी दशा द्वारा साधक को पहिचाना जाता है। ऐसी अंतरदशा से ज्ञानी को पहिचानने पर अति आनंद होता है और विकार में तन्मयबुद्धिरूप अज्ञान का नाश होकर अपूर्व भेदज्ञान प्रगट होता है। अंतर में अमृत के सागर में डुबकी लगाकर धर्मात्माओं ने चैतन्य के आनंद का जो मधुर वेदन किया है—उसके वर्णन द्वारा आचार्यदेव ने ज्ञानी की पहिचान करायी है—जो पहिचान अति आनंदकारी एवं अज्ञान का नाश करनेवाली है।

अज्ञान से ही विकार का कर्तृत्व है, और ज्ञान से ही उस कर्तृत्व का नाश होता है। निश्चय को जाननेवाले ज्ञानियों ने ऐसा कहा है कि—आत्मा अज्ञान से ही विभाव का कर्ता होता है। जहाँ भिन्न चैतन्यस्वभाव की प्रतीति हुई, वहाँ अपने चैतन्य के सिवा अन्यत्र कहीं भी आत्मबुद्धि नहीं होती, अर्थात् वह ज्ञानी समस्त परभावों को अपने स्वभाव से भिन्न जानता हुआ उनके कर्तृत्व को छोड़ता है।

देखो, यह ज्ञान का कार्य! ज्ञानी हुआ, वह आत्मा अपने चैतन्य के भिन्न स्वाद को जानता है। जहाँ चैतन्य के अत्यंत मधुर शांतरस का स्वाद जाना, वहाँ कड़वे स्वादवाले कषायों में आत्मबुद्धि कैसे होगी? यह रागादिभाव मेरे स्वभाव में से उत्पन्न हुए हैं—ऐसा ज्ञानी को किंचित्मात्र भासित नहीं होता।

शुद्धज्ञानमय परमभाव ही उसे अपना भासित होता है, इसलिये शुद्धज्ञानमय स्वभाव के आधार से उसको निर्मल ज्ञानभावों की ही उत्पत्ति होती है और उनका ही वह कर्ता होता है। विकल्पों की उत्पत्ति ही जहाँ मेरे ज्ञान में नहीं है, तो फिर उन विकल्पों द्वारा ज्ञान की पुष्टि हो—यह बात ही कहाँ रही?—इससे ज्ञानी को ज्ञान से भिन्न समस्त विकल्पों का कर्तृत्व छूट गया है। इसप्रकार राग के कर्तृत्वरहित ऐसे ज्ञानपरिणमन द्वारा ज्ञानी को पहिचाना जाता है।

(समयसार, गाथा ९७ के प्रवचन से)

पहला सुख वह आतमज्ञान,
दूसरा सुख वह चारित्रवान;
तीसरा सुख वीतरागीध्यान,
चौथा सुख है केवलज्ञान।

बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा

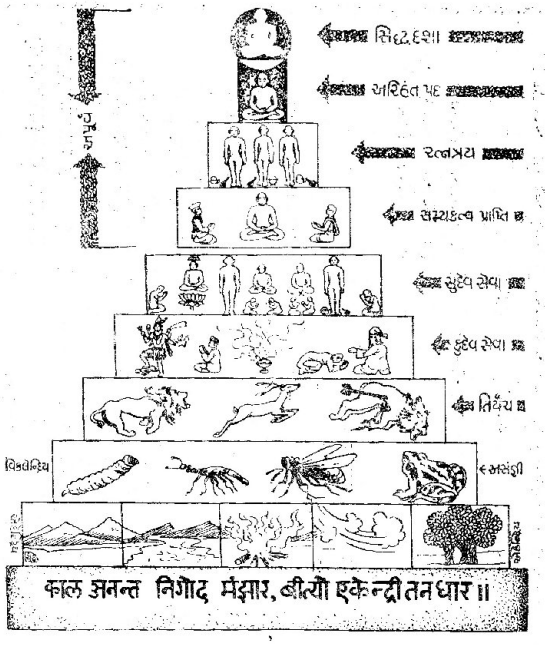

[अनंतकाल में निगोद से निकलकर सिद्धपद-प्राप्ति का क्रम क्या है ? तथा उसमें अपूर्व पद क्या है ? वह उपरोक्त चित्र में दर्शाया है। कार्तिकेयस्वामी ने 'बोधिदुर्लभ भावना' में जो दुर्लभता बतलायी है, तदनुसार 'छहढाला' में कथन है।]

प्रथम तो निगोद से निकलकर पृथ्वीकायादि में आना दुर्लभ; पश्चात् दो इन्द्रिय-तीन इन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय या असंज्ञी पंचेन्द्रिय होना दुर्लभ; फिर पंचेन्द्रिय होना दुर्लभ। पंचेन्द्रिय में भी मनुष्य होकर कुदेव-कुगुरु की सेवा से छूटकर सुदेव-सुगुरु की (पंच परमेष्ठी की) सेवा दुर्लभ है।

[यह सब दुर्लभ होने पर भी जीव यहाँ तक तो पहुँच गया है]

हे जीव! नीचे की पाँच सीढ़ियाँ चढ़कर तू पंच परमेष्ठी की सेवा तक पहुँच गया है; अब ऊपर की पाँच सीढ़ियाँ चढ़ने का उद्यम कर। कदाचित् एकसाथ चार सीढ़ियाँ न चढ़ सके तो एक सीढ़ी चढ़कर अपूर्वता में तो जरूर आजा।

पूज्य श्री कानजीस्वामी

मंगल-विहार का कार्यक्रम (वि.सं. २०२५)

[पूज्य स्वामीजी इस समय अहमदाबाद में विराजमान हैं, जहाँ पंच कल्याणक-प्रतिष्ठा हो रही है।]

क्रम	स्थान	तिथि	वार	दिनांक	दिन
१	अहमदाबाद	फा.कृ. ७ से फा.शु. ५ (फा.कृ.१० क्षय)	रवि से शुक्र	ता. ९ से २१-२-६९	१३ पंच कल्याण प्रतिष्ठा (प्रतिष्ठा-तिथि फा.शु.५ तारीख २१-२-६९ शुक्र.)
२	दहेगाम	फा.शु. ६	शनिवार	ता. २२-२-६९	१
३	रखियाल	फा.शु. ७	रविवार	ता. २३-२-६९	१
४	तलोद	फा.शु. ८-९	सोम-मंगल	ता. २४/२५-२-६९	२
५	मुनई	फा.शु. १०	बुधवार	ता. २६-२-६९	१ स्वाध्यायमंदिर का उद्घाटन
६	रणासण	फा.शु. ११से चैत्र कृ. २ (फा.शु. तेरस दो)	गुरु से गुरु	ता. २७ से ६-३-६९	८ पंच कल्याणक प्रतिष्ठा (प्रतिष्ठा चै.कृ. २, ता. ६-३-६९ गुरुवार)
७	हिम्मतनगर	चै.कृ. ३-५ (चौथ का क्षय)	शुक्र-शनि	ता. ७/८-३-६९	२ स्वाध्यायमंदिर का उद्घाटन (चै.कृ. ३)
८	नरसिंहपुरा	चै.कृ. ६	रविवार	ता. ९-३-६९	१
९	फतेपुर	चै.क. ७-८-९	सोम-मंगल-बुध	ता. १०-१२-३-६९	३ (बुध के शाम को रवाना होकर रात्रि अहमदाबाद में)
१०	बरवाला	चै.कृ. १०	गुरुवार	ता. १३-३-६९	१
११	कुंडला-कानातलाव	चै.कृ ११ से चै.कृ. १४	शुक्र से सोम	ता. १४ से १७-३-६९	४ चै. कृ. १३ रवि (कानातलाव ग्राम में जिनमंदिर-शिलान्यास)
१२	राजकोट	चै.कृ. ३० से चै.शु. १२	मंगल से रवि	ता. १८ से ३०-३-६९	१३ दिन
१३	सुरेन्द्रनगर	चै.शु. १३	सोमवार	ता. ३१-३-६९	१ महावीर जयंती
१४	अहमदाबाद	चै. शु. १४	मंगलवार	ता. १-४-६९	१

१५	बड़ौदा	चै.शु. १५	बुधवार	ता. २-४-६९	१
१६	मींयागाम	वै. कृ. १	गुरुवार	ता. ३-४-६९	१
१७	पालेज	वै. कृ. २ से५	शुक्र से सोम	ता. ४ से ७-४-६९	४
१८	सूरत	वै.कृ. ६-७ (अष्टमी का क्षय)	मंगल-बुध	ता. ८/९-४-६९	२
१९	बिलिमोरा	वै. कृ. ९	गुरुवार	ता. १०-४-६९	१ (दोपहर को प्रवचन के पश्चात् रवाना होंगे; रात्रि मार्ग में)
२०	थाना	वै. कृ. १०	शुक्रवार	ता. ११-४-६९	१
२१	बम्बई (स्वागत)	वै. कृ. ११	शनिवार	ता. १२-४-६९	(पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा; पूज्य स्वामीजी की ८०वीं जन्मजयंती-वै.शु. २)

—: बम्बई में पाँच महोत्सव :—

वै. शु. २, ता. १८-४-६९, शुक्रवार—पूज्य स्वामीजी की ८०वीं जन्मजयंती का 'रत्नचिंतामणि-महोत्सव',
वै. शु. ६, ता. २२-४-६९, मंगलवार—श्री सीमंधरस्वामी दि. जिनमंदिर (जवेरी बाजार) का दशवर्षीय उत्सव
वै. शु. ७, ता. २४-४-६९, गुरुवार—श्री ऋषभदेव दि. जिनमंदिर की प्रतिष्ठा-मलाड
वै.शु. ८, ता. २५-४-६९, शुक्रवार—श्री नेमिनाथ दि. जिनमंदिर की प्रतिष्ठा-घाटकोपर
वै.शु. ११, ता. २८-४-६९, सोमवार—श्री महावीरस्वामी दि. जिनमंदिर (दादर) का पंचवर्षीय उत्सव

—: विज्ञप्ति :—

श्री समयसारजी शास्त्र (हिन्दी) की तृतीय आवृत्ति प्रकाशित करने की माँग अनेक जिज्ञासुओं की ओर से आ रही है। मुमुक्षुओं से निवेदन है कि—जिन्हें जितनी प्रतियों की आवश्यकता हो, उसकी सूचना अपने नाम-पते सहित भिजवा देवें। पर्याप्त संख्या में आर्डर आ जाने पर छपाई की व्यवस्था की जायेगी। पता:—

दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

विविध समाचार

मु. बन्डा (जिला-सागर-मध्यप्रदेश) में
जैनधर्म शिक्षणशिविर का आयोजन

बन्डा दिगम्बर जैन समाज ने फाल्गुन कृष्णा ७ तारीख ९-२-६९ से २३-२-६९ तक जैनधर्म शिक्षणशिविर का आयोजन किया है। जिसका उद्घाटन विदिशा निवासी दानवीर श्रीमंत सेठ राजेन्द्रकुमारजी तथा सेठ जवाहरलालजी की उपस्थिति में हुआ। अनेक विद्वान एवं व्रती त्यागी भाग ले रहे हैं। बन्डा जैन समाज की ओर से सबके आवास एवं भोजनादि की समुचित व्यवस्था की गई है। प्रतिदिन प्रातःकाल जिनेन्द्रपूजन के पश्चात् विद्वानों द्वारा शास्त्र-प्रवचन होता है एवं धार्मिक कक्षाएँ लगती हैं। शंका-समाधान का कार्यक्रम भी प्रतिदिन होता है।

शिक्षणशिविर में विद्वानों एवं ब्रह्मचारियों व्रती महानुभावों के पधारने से अच्छी धर्म-प्रभावना हो रही है।

—ब्रह्मचारी राजाराम
व्यवस्थापक - मध्यप्रदेश व्रती संघ
भोपाल (म.प्र.)

एत्मादपुर—तारीख १-२-६९ स्थानीय जैन समाज के आग्रह से ब्रह्मचारी रमेशचंद्रजी यहाँ पधारे थे। प्रतिदिन शास्त्र-प्रवचन, शंका-समाधान, पूज्य कानजीस्वामी के प्रवचनों की टेपरील तथा शिक्षणशिविर का कार्यक्रम चलता था। शिविर के उद्घाटन के समय लश्कर निवासी पंडित धन्नालालजी पधारे थे तथा आगरा से श्री पद्मचंद्रजी सहित बड़ी संख्या में लोग आये थे, समाज ने अच्छा लाभ लिया। १० दिन के शिक्षणवर्ग द्वारा छोटे-बड़े सभी में धार्मिक जिज्ञासा एवं जागृति हुई है तथा स्वाध्याय करने की प्रेरणा मिली है।

दिगम्बर जैन स्वाध्याय गोष्ठी-एत्मादपुर (आगरा)

मौ (भिण्ड)—स्थानीय जैन समाज के बहुत दिनों के आग्रह पर आदरणीय ब्रह्मचारी श्री हेमराजजी तारीख ४-२-६९ को यहाँ पधारे हैं। आपके द्वारा प्रातः ५.०० से ६.०० तक शिक्षणवर्ग चलाया जाता है, उसमें लोग काफी अच्छी संख्या में लाभ ले रहे हैं; ९.०० से

१०.०० बजे तक समयसारजी, दोपहर को छहढाला तथा समयसारजी, रात्रि को मोक्षमार्गप्रकाशक पर प्रवचन होते हैं। लोग बड़ी रुचिपूर्वक प्रत्येक कार्यक्रम में उपस्थित रहते हैं, तथा पूज्य श्री कानजीस्वामी का खूब उपकार मानते हैं। *—शांतिकुमार जैन*

एटा (उ.प्र.)—जैन समाज की ओर से अति आग्रह सहित—ऐसा निमंत्रण होने से मैं एटा गया। सभी ने खूब प्रेमभाव बताया, यहाँ जैनों के ५०० घर हैं, ६ मंदिर हैं। पूज्य स्वामीजी के प्रवचन टेपरील द्वारा सुनकर लोग बहुत प्रसन्न हुए। 'हम सोनगढ़ अवश्य आयेंगे' ऐसा कहने लगे। ठहरने का भारी अनुरोध किया, किंतु शिकोहाबाद जाना था। मैं छह दिन ठहरा– स्वाध्याय मंडल की स्थापना का निर्णय हुआ। *—ब्रह्मचारी रमेशचंद्र जैन*

शिकोहाबाद (उ.प्र.)—तारीख ७–२–६९ यहाँ जैनियों के करीब डेढ़ सौ घर तथा पाँच मंदिर हैं। बड़े पंचायती मंदिर में जैनशिक्षण वर्ग, टेपरील–प्रवचन, तथा रात्रि को भी शास्त्रसभा एवं शिक्षणवर्ग का कार्यक्रम होता है। १० दिन ठहरना है। समस्त समाज को अच्छी जिज्ञासा है। यहाँ से जसवंतनगर, इटावा, मौ, भिंड, आगरा, बहरोड, अलवर होकर तारीख १७–३–६९ राजकोट (सौराष्ट्र) आने का कार्यक्रम है। *—ब्रह्मचारी रमेशचंद्र जैन*

धन्य वह मुनिदशा!

वह मुनिदशा कैसी अद्‌भुत होगी कि—प्रतिदिन चौबीस घंटों में से जिसके आठ घंटे निर्विकल्प अनुभव के आनंद में झूलते हुए व्यतीत होते हों! (क्योंकि मुनिदशा में दो भाग छट्ठे गुणस्थान के तथा एक भाग सातवें गुणस्थान का है।)

हे जीव! ऐसे मुनिवरों का आदर्श हृदय में लेकर तू प्रतिदिन आठ मिनिट तो आत्मचिंतन का उद्यम कर!—इसका भी तुझे महान फल मिलेगा।

श्री पंडित चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ का स्वर्गवास

जयपुर—जैन समाज के प्रतिष्ठा प्राप्त पंडित चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ (आचार्य जैन संस्कृत कालेज) का दिनांक २५ जनवरी को रात्रि के १.०० बजे स्वर्गवास हो गया। आपकी ७०वीं जन्मतिथि ३ दिन पूर्व राजस्थान दिगम्बर जैन परिषद के तत्त्वावधान में दिनांक २२ जनवरी को ही मनायी गयी थी। पंडितजी सोनगढ़ के पूज्य स्वामीजी के महान भक्त थे।

आप लगभग गत ४० वर्षों से श्री जैन संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल थे। आपके कारण ही जैन संस्कृत कालेज की इतनी प्रगति हुई। आप श्री महावीर तीर्थक्षेत्र, पदमपुरा तीर्थक्षेत्र, महावीर कन्या विद्यालय, जैन औषधालय आदि अनेक संस्थाओं के सदस्य, प्राण तथा वीरवाणी पाक्षिक पत्रिका के संस्थापक एवं प्रधान संपादक थे। आपके निधन से जैन समाज का एक बहुत बड़ा स्तंभ गिर गया और सारे समाज में शोक छा गया।

'वीरवाणी' का शीघ्र ही 'पंडितजी स्मृति अंक' प्रकाशित होगा।

डॉ. ताराचंद्र जैन बख्शी
संपादक, 'वीरवाणी' पाक्षिक
बख्शी भवन, नई कालोनी, जयपुर-१

सच्चा णमो अरिहंताणं

कौन जैन ऐसा होगा जो 'णमो अरिहंताणं' न जानता हो? परंतु उस णमो अरिहंताणं में तो मोह को जीतने का मंत्र है! क्योंकि णमो अरिहंताणं द्वारा जिन आत्मा को नमस्कार किया गया है, उन आत्मा को उनके द्रव्य-गुण-पर्याय से यथार्थस्वरूप में जानने पर अपने आत्मा के शुद्धस्वरूप की पहिचान होती है और तुरंत ही मोह का नाश हो जाता है। इसलिये अपने को सच्चा णमो अरिहंताणं करना हो तो अपना शुद्धस्वरूप अरहंत भगवान जैसा है, वह हमें जानना चाहिए।

हम अरहंतदेव को नमस्कार करते हैं, वह किसलिये करते हैं?—क्या सदा उनके सेवक रहने के लिये उन्हें नमस्कार करते हैं?—नहीं, परंतु उन अरिहंत समान बनने के लिये उन्हें नमस्कार करते हैं। अरिहंत समान हम तभी हो सकते हैं कि अपना आत्मा अरिहंत समान ही शुद्ध है—ऐसा जब मानें और उसमें शुद्धोपयोग द्वारा लीन हों। ऐसी शुद्धात्मस्वरूप की पहिचान और लीनता ही सच्चा णमो अरिहंताणं है।

आत्मधर्म के ग्राहकों से.....

[अपना वार्षिक चंदा भेजकर व्यवस्था में सहयोग दीजिये]

प्रिय महानुभाव!

(१) आपका वार्षिक चंदा आगामी चैत्र मास में पूरा हो रहा है। कृपया, नये वर्ष का चंदा ३) तीन रुपये मनीऑर्डर से भिजवा दें, ताकि नये वर्ष का अंक आपको समय पर मिल सके।

(२) यदि आप चाहें तो अपना चंदा अपने यहाँ के मुमुक्षु मंडल द्वारा भी भिजवा सकते हैं। (जिन-जिन नगरों में मुमुक्षु मंडल हैं, वे अपने नगर के ग्राहकों का चंदा एकत्रित करके ड्राफ्ट द्वारा भिजवायें तो व्यवस्था में विशेष सुविधा रहेगी।)

(३) अपना पूरा नाम और पता जिला-तहसील के साथ स्पष्ट अक्षरों में लिखें। जिससे आपका अंक नियत समय पर मिलता रहे।

(४) संस्था की ओर से वी.पी. नहीं की जाती; परंतु जो ग्राहक वी.पी. से अंक मंगवाना चाहते हों, वे हमें पत्र द्वारा सूचित करेंगे तो वी.पी. से अंक भेजा जायेगा।

(५) एकबार में सिर्फ एक ही वर्ष का चंदा लिया जाता है। इसलिये संवत् २०२५-२६ के एक वर्ष का ही चंदा ३) तीन रुपये भेजिये।

(६) आप अपने मित्रों या स्नेहियों को आत्मधर्म का ग्राहक बनाना चाहते हों तो उनका पूरा पता हमें भेजिये... हम उन्हें नमूने की एक प्रति बिना मूल्य भिजवा देंगे।

आशा है आपका सहयोग हमें प्राप्त होगा।

पता :—

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

'हितपद संग्रह' (पुष्प-२)

(जिसमें २५ आध्यात्मिक पद है) छपकर तैयार हो गई है।

(मूल्य ७५ पैसे। डाकव्यय अलग)

मिलने का पता:—

दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मंत्री-श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल
२६, डिप्टीगंज, सदर बाजार, देहली

विश्वतत्त्वों का सत्यस्वरूप सम्यक् अनेकांत द्वारा बतलाकर सच्चा समाधान, एवं अपूर्व शांति का उपाय दर्शानेवाले—

सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

१	समयसार	(प्रेस में)
२	प्रवचनसार	४.००
३	समयसार कलश-टीका	२.७५
४	पंचास्तिकाय-संग्रह	३.५०
५	नियमसार	४.००
६	समयसार प्रवचन (भाग-४)	४.००
७	मुक्ति का मार्ग	०.५०
८	जैनसिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला भाग-१	०.७५
	'' '' '' भाग-२	१.००
	'' '' '' भाग-३	०.५०
९	चिद्विलास	१.५०
१०	जैन बालपोथी	०.२५
११	समयसार पद्यानुवाद	०.२५
१२	द्रव्यसंग्रह	०.८५
१३	छहढाला (सचित्र)	१.००
१४	अध्यात्म-संदेश	१.५०
१५	नियमसार (हरिगीत)	०.२५
१६	धर्म के संबंध में अनेक भूलें	बिना मूल्य
१७	अष्ट-प्रवचन	१.५०
१८	मोक्षमार्गप्रकाशक (ढूंढारी भाषा में) (सस्ती ग्रंथमाला दिल्ली)	२.२५
१९	टोडरमलजी स्मारिका	१.००
२०	अपूर्व अवसर-प्रवचन	१.५०
२१	बालबोध पाठमाला	०.५०
२२	वीतरागविज्ञान पाठमाला	०.६५
२३	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०.२५
२४	सन्मति संदेश (पूज्य श्री कानजीस्वामी विशेषांक)	०.५०
२५	मंगल तीर्थयात्रा (गुजराती-सचित्र)	६.००

प्राप्तिस्थान :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट,

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये प्रकाशक एवं मुद्रक :

मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)